हर्ष

राष्ट्रीय जीवनचरित

हर्ष

वी.डी. गंगल

अनुवाद

सुमंगल प्रकाश

एकः सूते सकलम्

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

ISBN 81-237-0136-5

पहला संस्करण : 1968
दूसरी आवृत्ति : 1992
तीसरी आवृत्ति : 1996 (*शक 1918*)

Harsh (*Hindi*)

रु. 19.00

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली-110016 द्वारा प्रकाशित

अनुक्रम

1

प्रवेश

''एतेन खलु राजन्वती पृथिवी।'' अर्थात्, पृथ्वी को कोई राजा मिले हैं तो यही। यह है वह श्रद्धांजली जो भारत के सर्वश्रेष्ठ पुत्रों में से एक, राजा हर्ष, को संस्कृत के विख्यात कवि और चरितकार बाण से मिली थी। प्राचीन भारतीय इतिहास बहुत कुछ रहस्य के परदों में छिपा पड़ा है क्योंकि ऐतिहासिक घटनाओं का विस्तृत विवरण देने वाली ऐसी कोई भी सामग्री प्राप्त नहीं है जो सुरक्षित रूप में विद्यमान हो। किंतु राजा हर्ष के संबंध में, जिनके राजत्व को बाण ने ''देवताओं से भी बढ़ा-चढ़ा'' बताया है, यह बात नहीं लागू होती। राजा हर्ष की राज्य संबंधी घटनाओं की अच्छी खासी झलक देने वाली ऐतिहासिक सामग्री हमारे सौभाग्य से काफी मात्रा में उपलब्ध है। पहले तो, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, हमें बाण की अपनी विशिष्ट अलंकारिक शैली में लिखी हुई 'हर्षचरितम्' नाम की सुविख्यात रचना प्राप्त है जिसमें बड़े विस्तार से यह दिखाया है कि प्रभाकरवर्धन के द्वितीय पुत्र होने पर भी और राज्य के सीधे उत्तराधिकारी न रहने पर भी, हर्ष को राजगद्दी किस प्रकार मिली; किस प्रकार उन्हें सबसे पहले बड़े भाई की हत्या और अपनी बहन के प्रति होने वाले अत्याचारों का प्रतिशोध लेने के काम में जुट जाना पड़ा, आदि, आदि। बाण ने बाद को यह भी दिखलाया कि राजा हर्ष द्वारा जो दिग्विजय शुरू की गई उसकी परिणति-स्वरूप, उनका प्रभाव समूचे उत्तर भारत (जिसमें आधुनिक गुजरात भी शामिल है) पर फैल गया, अर्थात् उत्तर में नेपाल, और संभवत: कश्मीर से भी लगा कर दक्षिण में नर्मदा नदी के तटों तक, और पूर्व में असम से लगाकर पश्चिम में जालंधर तक। यहां यह स्पष्ट कर देना अच्छा होगा कि हर्ष द्वारा प्रत्यक्ष रूप से शासित क्षेत्रों में केवल पूर्वी पंजाब, समूचा उत्तर प्रदेश, बिहार, और आंशिक रूप में मध्यप्रदेश और उड़ीसा ही थे। पश्चिमी बंगाल का भी कुछ भाग उनके साम्राज्य का अंग था। राजा हर्ष ने काफी लंबे समय तक राज्य किया, लगभग इकतालीस वर्ष तक।

दुर्भाग्यवश बाण-लिखित हर्ष की जीवनकथा अधूरी ही है। बाण ने केवल आठ

ही परिच्छेद (उच्छ्वास) लिखे और उनकी पुस्तक, प्राय: बीच में ही ठीक ऐसी जगह आकर रुक गई जबकि हर्ष अपने गौरव के चरम शिखर पर पहुंचे दिखाए गए हैं। उन्हें तभी अपनी अभागी बहन राज्यश्री का उद्धार करने में सफलता मिली थी और बाण की पुस्तक जहां आकर रुक गई है उसके बाद हर्ष के लिए गौड़ राजा का विनाश करने की अपनी प्रतिज्ञा पूरी करनी बाकी ही थी। शायद वह ठीक ऐसे स्थल पर अपनी पुस्तक समाप्त करना चाहते भी नहीं थे, पर किसी अज्ञात कारणवश उन्हें अपनी रचना का काम बीच में ही छोड़ देना पड़ा। तीसरे परिच्छेद में अवश्य बाण की अपने चचेरे भाईयों के साथ होने वाली बातचीत का उल्लेख है जिसमें उन्होंने यह प्रकट किया है कि उस गौरवशाली राजा की संपूर्ण जीवनकथा के प्रति न्याय करने की सामर्थ्य का उनमें अभाव है। एक सौ जन्म भी इसके लिए पर्याप्त नहीं हैं (क: खुल पुरुषायुषशतेनापि शक्नुयादविकलमस्य चरितं वर्णयितुम्) किंतु उनका यह कथन नम्रता प्रदर्शन मात्र माना जाएगा। इसी प्रकार की नम्रता उन्होंने छंद में भी दिखाई है जब उन्होंने कहा है कि इतनी बड़ी जीवनकथा का प्रारंभ करके वह एक 'महासागर को पार करने की चपलता' कर रहे हैं (करोम्याख्यायिकाम्मोधौ जिह्वाप्लवनचापलम्।) किंतु यह तो उस महान नरपति के प्रति उसकी श्रद्धा का प्रदर्शन भर है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि इस बात का कोई भी आंतरिक प्रमाण नहीं है कि बाण ने अपनी रचना अधूरी ही लिखी छोड़ दी। बाण की दूसरी विख्यात रचना **कादम्बरी** भी उसकी मृत्यु के कारण अधूरी ही रह गई थी जिसे उसके पुत्र भूषण बाण ने पूरा किया था।

राजा हर्ष के बारे में हमारी जानकारी की वृद्धि के लिए कुछ दूसरी सामग्री भी उपलब्ध है। सातवीं सदी ईसवी में युआन च्वांग नाम का एक धार्मिक चीनी यात्री भारत आया था। विभिन्न विद्वानों ने इस नाम के भिन्न-भिन्न उच्चारण दिए हैं, जैसे ह्यूएन थ्सांग या हुएन त्सांग। पर युआन च्वांग उच्चारण चीनी नाम के सब से अधिक निकट है। युआन चार भाईयों में सब से छोटा था। स्वयं वह बहुत बड़ा विद्वान और दार्शनिक था। अपने देश में उसकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। उसका जन्म चैन हुइ नाम के एक ऐसे प्रतिष्ठित वंश में हुआ था जिसकी उत्पत्ति एक राजघराने से हुई समझी जाती थी। अपने प्रारंभिक जीवन में युआन च्वांग बौद्ध धर्मशास्त्रों के प्रति बहुत ही आकृष्ट हुआ था और उसके अंदर ज्ञान की पिपासा थी। उस युग में एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना कम कठिन नहीं था, फिर भी वह चीन से भारत तक का लंबा रास्ता तय करके यहां आया और इस देश के एक स्थान से दूसरे स्थान तक भ्रमण करते हुए उसने पंद्रह वर्ष यहां बिताए। राजा हर्ष की राजसभा में भी वह काफी वक्त तक रहा। उसके मन पर यहां की जो छाप पड़ी

उसे उसने अपने यात्रा-ग्रंथ ''ह् सी-यु-ची'' या ''सी-यु-की'' में लिपिबद्ध किया था। यह ग्रंथ, जिसका पूरा शीर्षक है ''ता-तांग-हसी-यु-ची'' अर्थात् ''महान तांग काल में पश्चिमी देशों के वृत्त'', प्राचीन भारतीय इतिहास के विद्यार्थी के लिए जानकारी का एक बड़ा स्त्रोत है, क्योंकि इससे सातवीं सदी के भारतीय उपमहाद्वीप की सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक अवस्थाओं पर बहुत बड़ा प्रकाश पड़ता है। ह्सी-यु-ची कई संस्करणों में विद्यमान है जिनके बीच मूल परिशिष्ट के रूप में जोड़ी गई टिप्पणियों और भाष्यों, सभी में कुछ न कुछ अंतर मिलता है। फिर भी यह तो एक सुंदर संयोग ही था कि युआन च्वांग राजा हर्ष की राजसभा में इतने लंबे काल तक रह गया जिससे हमें हर्ष-काल के जीवन के संबंध में इतनी विस्तृत जानकारी प्राप्त हो सकी।

ऐसा ही सुंदर संयोग एक और भी हुआ। जैसा कि ऊपर कहा ही जा चुका है, हर्ष के जीवन की बाण की कथा अचानक ऐसी जगह आकर रुक गई है जबकि वह अपने गौरव के चरम शिखर पर थे। ऐतिहासिक दृष्टि से कहें तो बाण की कथा लगभग 612 ईसवी तक आकर समाप्त हुई है जबकि राजा हर्ष ने विधवा हो जाने वाली अपनी बहन राज्यश्री का उद्धार किया। युआन च्वांग इसके काफी समय बाद (630 ईसवी में) भारत आया, पर हर्ष के जीवन की उसकी कहानी उस पूरे काल की है जो बाण के बाद से छूटा पड़ा था। वह पंद्रह वर्ष भारत में रहा, और उसके ह्सी-यु-ची से हमें 630 और 645 ईसवी के बीच के राजा हर्ष के राज से संबंधित ही नहीं, उनके प्रारंभिक जीवन के बारे में भी बहुत बड़ी सामग्री मिलती है। युआन च्वांग के भारत से विदा हो जाने के बाद राजा हर्ष कुछ ही वर्ष और जिए। युआन च्वांग लिखित ग्रंथ के बाद उसके एक मित्र ने उस महान यात्री का जो जीवनचरित्र लिखा उससे भी उसके द्वारा दिए गए विवरण की पूर्ति हुई है। इस जीवनचरित का नाम है ''ह्वुइ-ली'' अर्थात् ''युआन च्वांग की जीवनी।'' इस ग्रंथ से भी कुछ ऐसी सामग्री प्राप्त होती है जिससे राजा हर्ष के काल के भारतीय इतिहास को हम थोड़ा और समझ पाते हैं।

राजा हर्ष के बारे में हमारी जानकारी बढ़ाने वाला एक स्त्रोत और भी है जिससे हमें कुछ सामग्री प्राप्त होती है। स्वयं राजा हर्ष के, और उन के समकालीन कुछ औरों के भी, ऐसे अभिलेख मौजूद हैं जिनसे उस युग की सामाजिक और राजनैतिक अवस्थाओं पर बहुत बड़ी रोशनी पड़ती है। इस तरह की कीमती जानकारी देनेवाले, राजा हर्ष के तीन जाने हुए अभिलेख हैं, मधुवन ताम्रपत्र, बांसखेड़ा ताम्रपत्र और सोनीपत ताम्रमुद्रा। इनमें से पहला संभवत: 631 ईसवी (राजा हर्ष के राज के पच्चीसवें वर्ष) में और दूसरा 628 ईसवी (उनके राज के बाईसवें वर्ष) में जारी किया गया

था। राजा की विज्ञप्तियों या आज्ञाओं की घोषणा करने के विविध प्रकारों में से एक प्रकार यह भी था। इन आज्ञाओं में राजपत्र जारी किए जाने के स्थान का उल्लेख है और उन पर राजा के हस्ताक्षर इस प्रकार हैं (जिस प्रकार आज के सभ्य देशों में जारी किए जाने वाले ''हुक्मनामों'' में) ''महाराजाधिराज श्री हर्ष के अपने हाथ से (स्वहस्तो मम महाराजाधिराजश्रीहर्षस्य)''। बांसखेड़ा ताम्रपत्र में दिए हुए राजा हर्ष के हस्ताक्षर की प्रतिकृति पाठकों के मनोरंजनार्थ नीचे दी जा रही है।



ऊपर गिनाए गए स्त्रोतों के अलावा और भी कुछ सामग्री उपलब्ध है। संस्कृत साहित्य में राजा हर्ष का उल्लेख कई स्थानों पर हुआ है। यह ठीक है कि हर्ष नाम के चार और व्यक्ति भी हुए हैं, पर इनमें हमारे चरितनायक का ही उल्लेख है यह अकाट्य रूप से सिद्ध हो जाता है। बाण राजा हर्ष के समकालीन थे, और बाण का काल निश्चित कर लेने पर हम राजा हर्ष का काल भी निश्चित कर सकते हैं। काव्यप्रकाश में, और ध्वन्यालोक में भी, राजा हर्ष के उल्लेख हैं। राजा हर्ष स्वयं भी साहित्यिक थे। उन्होंने कम से कम तीन नाटक-नाटिकाएं लिखीं प्रिय-दर्शिका, रत्नावली और नागानन्द। उनकी लिखी हुई कुछ कविताएं भी हैं। इस साहित्य से हमें राजा हर्ष के काल के जन जीवन की कुछ झलक तो मिल ही जाती है।

जानकारी के इन छिटपुट स्त्रोतों को जोड़ जाड़ कर जो सामग्री इकट्ठा हो जाती है उसके आधार पर राजा हर्ष की जो तस्वीर हमारे सामने उभर कर आती है वैसी और किसी प्राचीन भारतीय नरेश की नहीं आती।

2

प्रारंभिक जीवन

राजा हर्ष का जन्म एक ऐसे प्राचीन राजघराने में हुआ था जिसमें पैदा होनेवाले प्राय: सभी राजाओं ने उनसे पहले के इतिहास पर अपनी छाप छोड़ी थी। मधुबन और बांसखेड़ा के ताम्रपत्रों से (जो 630 ईसवी के आसपास जारी किए गए थे) इस महान नरेश की वंशावली का पता लगता है। राजा हर्ष के अति निकट के पूर्वज थे।

पिता : प्रभाकरवर्धन
माता : यशोमती
पितामह : आदित्यवर्धन
प्रपितामह : राज्यवर्धन

इस कुल के प्रतिष्ठाता पुष्पमूर्ति थे जो भगवान शिव के परम भक्त थे। पर यहां हम हर्ष के माता पिता और भाई बहन के बारे में ही लिखेंगे।

राजा प्रभाकरवर्धन एक बहुत ही योग्य शासक थे और उनकी राजधानी स्थाण्वीश्वर में थी जो आज का थानेसर है। यह स्थान आज के अम्बाला और दिल्ली के बीच (कुरुक्षेत्र के पास) स्थित था। राजा प्रभाकरवर्धन एक वीर पुरुष थे और बाण ने अपनी विशिष्ट अलंकारिक शैली में उनका बखान ''हूणों से जूझते समय किसी हिरन के सामने सिंह'' के रूप में, या ''सिंधु अंचल के अधिपति के लिए परम दाहक ज्वर'' के रूप में किया है। राजा प्रभाकरवर्धन के पराक्रम ने ''गुजरात-नरेश की नींद हराम कर दी थी'' और ''गंगाधर-नरेश रूपी हाथी के लिए वह हस्तिवातज्वर नामक हाथियों की बीमारी थे''। उनकी विजयी सेनाएं जब कूच करती थीं तब पर्वत और खाइयों, झाड़ी और जंगल, झाड़-झंखाड़ और बाम्बियों, पहाड़ों और गुफाओं, सभी का इस तरह सफाया होता चलता था कि वहां की जमीन समतल हो जाती थी और इस प्रकार के उनके विशाल राज्य में अंतर्संपर्क स्थापित करने वाली चौड़ी चौड़ी सड़कें आप से आप बन गई थीं। अपनी इन विजयों के कारण वह निरे ''महाराज'' के स्थान पर ''महाराजाधिराज'' और ''परम भट्टारक'' की पदवी से विभूषित कर दिए गए थे।

इस वीर राजा का विवाह मालव के एक अन्य यशस्वी नरेश की पुत्री यशोमती के साथ हुआ था जिससे उसकी तीन संतान पैदा हुई थीं। इनमें सबसे बड़ा राज्यवर्धन था, दूसरा हर्ष, और सबसे छोटी राजकुमारी राज्यश्री थी।

ऐतिहासिक प्रलेख मौजूद हैं जिनके आधार पर हर्ष के जन्म की सुनिश्चित तिथि और मास का पता चल गया है। उनका जन्म 590 ईसवी, जून मास (ज्येष्ठ मास के शुक्ल पक्ष की द्वादशी) में हुआ था। सोनीपत के अभिलेख में उनके जन्म का ठीक समय भी दिया हुआ है "संध्या काल के तुरंत बाद ही।" राजकुमार राज्यवर्धन का जन्म लगभग चार वर्ष पहले हो चुका था और राजकुमारी राज्यश्री का जन्म हर्ष के डेढ़ साल बाद हुआ। अपने 'हर्षचरितम्' में बाण ने लिखा है कि राज्यश्री के जन्म के समय हर्ष अपनी धात्री का सहारा लेकर पांच-छः पग चलने लायक ही हुए थे। लगभग उसी समय रानी यशोमती के भाई ने अपने पुत्र भंडि को, जो तब आठ वर्ष का था, राजकुमारों का सहचर बनने के लिए भेजा था। राज्यवर्धन से भी उम्र में कुछ बड़ा होने के नाते भंडि, इन राजकुमारों की अवस्था बढ़ने के साथ साथ, उनका मित्र और सलाहकार बन गया। जब राज्यश्री बड़ी हुई तब उसका विवाह मौखरि नरेश के पुत्र ग्रहवर्मन के साथ कर दिया गया। वह अपने पति के साथ कान्यकुब्ज चली गई।

राजधानी स्थाण्वीश्वर (यह शब्द भगवान शिव के एक दूसरे नाम स्थाणु और ईश्वर के संयोग से बना है) एक धर्मक्षेत्र माना जाता था कौरवों का कुरुक्षेत्र, जो महाभारत काल का सुप्रसिद्ध युद्धक्षेत्र था। छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में राजा प्रभाकरवर्धन मालवों, हूणों और गुर्जरों को पराजित कर ही चुके थे। 604 ईसवी में उस वीर राजा ने उत्तर-पश्चिम सीमांत स्थित हूणों पर फिर आक्रमण करने का निश्चय किया। राजा शायद अधिक वृद्ध हो चुके थे और इसलिए उन्होंने अपने बड़े बेटे राज्यवर्धन को जो तब अठारह वर्ष का हुआ था, आक्रामक सेना का सेनापति बना दिया। हर्ष भी, जो तब चौदह साल का ही था, पीछे रहने वाला नहीं था, और वह भी एक अश्वारोही टुकड़ी लेकर उसके पीछे रवाना हो गया। किंतु बड़ा भाई जब शत्रु के क्षेत्र में दूर तक अंदर घुस कर युद्ध में संलग्न था, छोटा हर्ष जंगलों के बीच सिंहों, भालुओं और चीतों जैसे हिंस्त्र पशुओं का शिकार करने में अटका रह गया।

इसी तरह शिकार खेलते वक्त एक दिन हर्ष को भावी विपत्ति के सूचक कई प्रकार के अपशकुन दिखाई दिए। उसकी बांई आंख लगातार देर तक फड़कती रही, सारा शरीर बिना किसी ज्ञात कारण के, कांपने लगा, मन में उदासी भर गई और दिल जोर जोर से धड़कने लगा। ऐसी हालत में उस दिन हर्ष का शिकार खेलने

को मन नहीं हुआ। जल्दी ही उसका डर सही साबित हुआ। कुरंगक नाम के दूत ने आकर हर्ष को एक पत्र दिया। उस पत्र में किसी विषम प्रकार के ज्वर से राजा के पीड़ित होने का अशुभ समाचार था। हर्ष अपने बड़े भाई के साथ कोई संपर्क स्थापित नहीं कर पाया और अपने बीमार पिता के पास जल्दी से जल्दी पहुंचने के लिए उसी क्षण चल पड़ा। राजधानी तक पहुंचने में हर्ष को तीन दिन लगे पर उसने उस बीच अन्न का एक दाना भी अपने मुंह में नहीं डाला। ऐसी अवस्था में आश्चर्य ही क्या था कि राजा को अपनी रोगशैया से हर्ष बहुत ही दुर्बल और कमजोर दिखाई दिया।

हर्ष ने एक एक से राजा की बीमारी के बारे में पूछा, पर कोई उसे कुछ भी नहीं बता सका। एक अनुभवी पर नवयुवक वैद्य हर्ष को असली बात बताने के लिए तैयार हो गया, किंतु उस दिन नहीं, अगले दिन। लेकिन दुर्भाग्यवश राजा का प्राणांत कुछ ही देर बाद हो गया। उस वैद्य ने शायद पहले ही भांप लिया था। राजा की ईंटों की एक समाधि तैयार की गई, और हर्ष ने अपने बड़े भाई के पास खबर भिजवाई। राज्यवर्धन अविलंब राजधानी लौटा, पर हूणों के विरुद्ध हुए युद्ध में उसे कई चोटें लगी थीं। उसके बदन पर सफेद कपड़े की पट्टियां बंधी हुई थीं। पिता की मृत्यु से उसे इतना शोक हुआ कि वह संसार छोड़ साधु हो जाने की सोचने लगा और उसने हर्ष की खुशामद भी की कि वही राजगद्दी पर बैठे। किंतु हर्ष भी कम महान नहीं था, और वह किसी तरह भी उसके लिए राजी नहीं हुआ। अंत में राज्यवर्धन ही गद्दी पर बैठा। कुछ विद्वानों को संदेह है कि राज्यवर्धन वस्तुतः गद्दी पर बैठा या नहीं। बाण ने उसके राजसिंहासनारुढ़ होने का खंडन न करते हुए भी इस बात का उल्लेख किया है कि संसार त्याग की इच्छा से राज्यवर्धन जब सिंहासनारुढ़ होने से इंकार कर रहा था, तभी उसके बहनोई की हत्या का समाचार प्राप्त हुआ था। किंतु दूसरे इतिहासकारों का मत है कि जब हर्ष ने राजगद्दी पर बैठने से इंकार कर दिया तब राज्यवर्धन ने विधिवत राजमुकुट धारण किया।

पर अभी और भी अशुभ समाचार आने को बाकी था। राजकुमारी राज्यश्री, जो अपने पति ग्रहवर्मन के साथ सुखी जीवन बिता रही थी, अचानक विधवा हो गई क्योंकि मालव नरेश ने उसके पति का सिर काट डाला और उसे कन्नौज में बंदी बना लिया। मालव नरेश ने शायद यह मान लिया था कि राजा प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के फलस्वरूप और दोनों राजकुमारों के हूणों के विरुद्ध युद्ध में संलग्न रहने के कारण, उसे अपनी स्वाधीनता घोषित करने का अच्छा अवसर हाथ लगा है। राज्यवर्धन, राजसिंहासन पर बैठने के इतनी जल्द बाद भी, इस घोर अपमान को सहन नहीं कर पाए, खास तौर से एक ऐसे व्यक्ति द्वारा जो शक्ति में उनसे

बहुत कम था। बाण के शब्दों में कहें तो राज्यवर्धन उबल पड़े -"पुष्पभूति के वंशजों की अवहेलना मालव द्वारा! एक मेंढकी का यह दुस्साहस कि वह नागराज के फन को कुचलना चाहे? किसी बछिया की यह हिम्मत कि वह शेर को अपना बंदी बनाना चाहे"? उन्होंने कूच का डंका बजाने का हुक्म दिया और अपने ममेरे भाई भंडि को दस सहस्त्र की सेना के साथ अपने साथ आने को कहा। हर्ष को यह जरा भी नहीं भाया कि वह वहीं पड़ा रहे और लड़ाई में भाग ही न ले सके। उसने अपने भाई की बड़ी खुशामद की कि या तो उसे अपने साथ ले चले और या अकेले उसी को काम पर भेजे। पर राज्यवर्धन ने किसी प्रकार समझा बुझा कर उसे राजी कर लिया, और इस तरह, राजकाज संभालने के लिए, वह वहीं रह गया। हर्ष को वैसा ही लगा जैसा किसी हाथी को अपने झुंड से बिछड़ जाने पर लगता है, किंतु उसने अपने भाई की आज्ञा शिरोधार्य की।

किंतु एक और दु:खद घटना घटने वाली थी। नवयुवक हर्ष कुछ दिन तक राजधानी में अपने कर्त्तव्य पालन में लगा रहा, और उसे पूरा भरोसा था कि उसके बड़े भाई को मालव-नरेश को पराजित करते कुछ भी देर नहीं लगेगी। उसकी धारणा सही भी थी। राज्यवर्धन के समक्ष आत्मसमर्पण करते मालव-नरेश को कुछ भी देर नहीं लगी। किंतु भाग्य विपरीत था, और गौड़ों के राजा शशांक ने बनावटी नम्रता दिखलाकर, विजयी राज्यवर्धन को इस बात के लिए फुसला लिया कि वह उसके महल में अकेले ही चले आएं। किंतु राज्यवर्धन को अकेला पा उसने उसकी हत्या करा डाली। इस हत्या के पीछे कारण क्या थे, इस संबंध में कोई जानकारी प्राप्त नहीं है। पर लगता है कि मालव नरेश को पराजित करने के बाद राज्यवर्धन औरों को भी पराजित करने के उत्साह में और भी पूरब की ओर बढ़ते गए। इससे शायद ईर्ष्या पैदा हुई। हर्ष को जब विश्वस्त भृत्य कुंतल से अपने भाई की मृत्यु का समाचार मिला तब उसने तुरंत ही इस विश्वासघातपूर्ण हत्या का बदला लेने का दृढ़ संकल्प कर लिया। युआन च्वांग के अनुसार यह गौड़ नरेश शशांक था — पूर्वी भारत स्थित कर्णसुवर्ण का दुष्ट नरेश। बाण ने उसे केवल गौड़राज कहा है, जबकि युआन च्वांग ने उसे कर्णसुवर्ण कहा है बौद्धों पर अत्याचार करने वालों और बौद्ध विहारों का विनाश करने वाला, जिसने बुद्ध के पदचिन्हों से अंकित पावन शिला को गंगा में फेंक दिया था और गया के बोधिवृक्ष को कटवा डाला था। उसने सारे देश को आतंकित कर रखा था और बहुत ही उद्धत हो गया था। यह वही था जिसने गुप्त वंश के मालव नरेश के साथ षड्यंत्र करके कन्नौज के शक्तिशाली राजा को पराभूत किया था। राज्यवर्धन की हत्या उन्हीं लोगों द्वारा हुई थी और कहा जाता है कि हर्ष ने ठीक समय पर कदम न उठाए होते तो वे लोग उत्तर की ओर बढ़ते हुए स्थाण्वीश्वर

पर ही धावा बोल देते। उस विश्वासघातपूर्ण हत्या के कारण का तो पता नहीं चलता है पर बाण के ''हर्षचरितम्'' के एक भाष्यकार ने लिखा है कि शशांक ने अपनी कन्या का राज्यवर्धन के साथ विवाह करने का प्रस्ताव रखा था।

जो भी हो, इस हत्या का बदला जल्दी ही लेना था। आखिर स्थाण्वीश्वर सभी की निगाहों मे एक प्रभुसत्ता संपन्न राज्य था और शक्ति प्रदर्शन द्वारा उसे अपने अधिकार का प्रयोग करना ही था। राजपरिवार के दो दो व्यक्तियों के साथ ऐसा सलूक किया जाय, तो भला किसका खून न खौल उठता ?

हर्ष की उम्र उस वक्त मुश्किल से चौदह साल की रही होगी। राजगद्दी सूनी पड़ी थी और स्पष्ट ही उस पर उसका उत्तराधिकार था। कन्नौज के रिक्त राजसिंहासन पर आरूढ़ होने के लिए राज सभासदों द्वारा हर्ष की जो अनुनय विनय की गई उसका युआन च्वांग का विवरण मनोरंजक है। युआन च्वांग ने लिखा है ''यह राजा वैश्य जाति का था; इसका अपना नाम था हर्षवर्धन, और यह प्रभाकरवर्धन नामक महान नरपति का छोटा बेटा था। प्रभाकरवर्धन की मृत्यु होने पर उनकी गद्दी उनके बड़े बेटे राजवर्धन (या राज्यवर्धन) को मिली थी। पर उसके राजगद्दी पर बैठने के कुछ ही बाद, पूर्वी भारत स्थित कर्णसुवर्ण के बौद्धद्रोही दुष्ट राजा शशांक द्वारा धोखा देकर उसकी हत्या कर डाली गई। इस पर कन्नौज के राजसभासदों ने, अपने नेता वाणी (या बाणी) की सलाह पर, निहत राजा के छोटे भाई हर्षवर्धन को राजा बनाना चाहा। राजकुमार विनय स्वरूप ना करते रहे और उन लोगों के अनुरोध की रक्षा करने के प्रति अनिच्छा ही दिखाते रहे''।

''राज्य के सचिव जब हर्षवर्धन पर दबाव डालते ही चले गए कि वह अपने भाई की गद्दी पर बैठे और उनकी हत्या का बदला ले'', आगे चल कर इस विवरण में कहा गया है, ''तब राजकुमार इस बात पर अड़ गया कि बोधिसत्व अवलोकितेश्वर (कुआन-त्सु-त्साई के अनुवाद में जिनका नाम ''देखने वाले भगवान'' दिया गया है) से पूछ कर बताएगा। इन बोधिसत्व की एक मूर्ति उसी जिले के एक उपवन में गंगा किनारे स्थापित थी जो कितने ही चमत्कार दिखा चुकी थी। राजकुमार वहीं गया और नियमानुसार व्रत और पूजापाठपूर्वक उसने बोधिसत्व के समक्ष अपनी समस्या रखी । भगवान की कृपा हुई और उसे उत्तर मिला कि उसने जो पुण्यकार्य किए थे उन्हीं के कारण उसे राजत्व मिला है, और इसीलिए उसे वह स्वीकार कर लेना चाहिए जिससे कि वह कर्णसुवर्ण के राजा द्वारा पददलित बौद्ध धर्म की ध्वजा को ऊंचा उठाए और फिर स्वयं एक महान राजा बने। बोधिसत्व ने उसे गुप्त रूप से सहायता करने का भी वचन दिया, पर साथ ही साथ सावधान भी किया कि न तो वह कभी राजगद्दी पर बैठे, और न महाराज की उपाधि अपने नाम के साथ

लगाए। हर्षवर्धन तब शिलादित्य की उपाधि के साथ कन्नौज का राजा बना और अपने को महाराज की जगह ''कुमार'' ही कहता रहा''।

अपना कथावृत जारी रखते हुए उस चीनी यात्री ने आगे लिखा है—''शासक बनते ही शिलादित्य ने एक बड़ा सैन्यबल तैयार किया और अपने भाई की हत्या का बदला लेने और पड़ोसी राज्यों को वशीभूत करने के लिए वे निकल पड़े। पूर्व की ओर बढ़ते हुए उन्होंने, जिन राज्यों ने झुकने से इंकार किया, उन पर चढ़ाई कर दी, और छः वर्ष तक निरंतर युद्ध में संलग्न रहते हुए 'पंच भारत' के साथ लड़ाई की (शुद्ध पाठ ''चीई'' मानने पर; किंतु एक अन्य पाठ के ''चैन'' के अनुसार, उन्होंने 'पंच भारत' से अपनी ''अधीनता'' स्वीकार कराई)। फिर, अपने राज्य की सीमा का इस प्रकार विस्तार कर लेने के बाद, उन्होंने अपनी सैन्यशक्ति में वृद्धि की और गजारोही सेना को बढ़ाकर 60 हजार तक, तथा अश्वारोही सेना को बढ़ाकर एक लाख तक कर डाला और इस प्रकार शक्तिशाली बनकर, वह बिना एक भी हथियार उठाए, शांतिपूर्वक तीस वर्ष तक राज करते रहे। उनका शासन न्यायपूर्ण था और अपने कर्त्तव्य पालन में उनकी परम निष्ठा थी। सत्कार्यों के अनुष्ठानों में वे नींद और भूख दोनों ही भूल जाते थे। 'पांचों भारत' में उन्होंने मांस भोजन वर्जित करा दिया था और किसी भी जीव का प्राण लेने वाले को बहुत ही कड़ा दंड दिया जाता था। गंगा के किनारे किनारे उन्होंने सहस्त्रों स्तूप खड़े किए थे, राज्य भर में कितनी ही धर्मशालाएं खोली थीं और बौद्धों के तीर्थस्थानों पर बौद्ध विहार स्थापित किए थे। वह नियमित रूप से पंचवार्षिक सम्मेलन का अनुष्ठान करते थे और दान करते समय युद्ध सामग्री को छोड़, सब कुछ दे डालते थे। वर्ष में एक बार वह सारे बौद्ध भिक्षुओं को एकत्र कर, इक्कीस दिन तक उनका आतिथ्य करते थे और उनकी सारी धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। बौद्ध उपासनागृहों (चैत्यों) के साज शृंगार पर और उनके विहारों के सभा मण्डपों को सुसज्जित करने में उन्होंने रंच मात्र भी कंजूसी नहीं की थी। संघ के भिक्षुओं को वह शास्त्रार्थ के लिए आमंत्रित करते थे और प्रत्येक को, उसके अच्छे बुरे फल के अनुसार, पारितोषिक या दंड देते थे । जो भिक्षु संघ के विधि निषेध का कड़ाई के साथ पालन करते थे और आचार विचार की कसौटी पर खरे उतरते थे, उन्हें वह 'सिंहासन' (अर्थात् सबसे ऊंचा स्थान) देते थे और इन्हीं से धर्मोपदेश ग्रहण करते थे। जो आचार संहिता के पालन में तो पूर्णतया दक्ष थे किंतु जिनकी शास्त्रों में पैठ नहीं थी उनकी वे केवल शिष्टाचार के नाते संवर्धना करते थे; और जो धार्मिक आचारों का ठीक से पालन नहीं करते थे और साथ ही जो अपने दुराचरण के लिए कुख्यात थे उन्हें वे अपने सामने से ही नहीं हटा देते थे बल्कि उन्हें देश से ही निर्वासित कर दिया जाता था।

पड़ोस के उन राजा राजकुमारों और राजपुरुषों का जिनका धर्म कर्म के प्रति बड़ा उत्साह रहता था और जो धर्म मार्ग पर आगे बढ़ते थकते नहीं थे, वे स्वयं अपने आसन तक ले जाते थे ओर अपना सुहृद कहकर संबोधित करते थे। पर इससे भिन्न प्रकृति के लोगों के साथ वह वार्तालाप भी नहीं करते थे। राजा के निवास स्थानों पर प्रति दिन एक सहस्त्र भिक्षुओं और पांच सौ ब्राह्मणों को भोजन दिया जाता था''।

किंतु बाण के अनुसार हर्ष के राजसिंहासनारूढ़ होने का श्रेय भंडि को उतना नहीं था जितना सिंहनाद को। पर दोनों के ही विवरणों में इस संबंध में मतैक्य है कि राजा होने के लिए हर्ष तैयार नहीं हो रहे थे।

इस प्रसंग को लेकर इतिहासकारों के बीच कुछ उलझन जैसी जान पड़ती है। कुछ ने हर्ष की धार्मिक प्रवृत्ति को उनकी झिझक का (राजगद्दी स्वीकार करने में) कारण माना है जो कुछ ही दिनों के अंदर घटने वाली कई दुर्घटनाओं के फलस्वरूप और भी तीव्र हो गई थी। कुछ दूसरों का विचार है कि राज्यवर्धन की कोई संतान रही होगी (जिसके बारे में कहीं भी कोई उल्लेख नहीं मिलता), अथवा उनकी विधवा रानी गर्भवती रही होंगी, और हर्ष उस संतान का ही गद्दी पर न्यायपूर्ण अधिकार समझते होंगे। किंतु इस दूसरे मत के पक्ष में भी कोई प्रमाण नहीं पाया जाता। और फिर, युआन च्वांग और बाण के विवरणों के बीच इस बात पर भी मतभेद है कि राजगद्दी स्वीकार करने के लिए हर्ष को अंत में राजी कर लेने का श्रेय भंडि को था या सिंहनाद को। किंतु वस्तुस्थिति यही जान पड़ती है कि दोनों ने ही उन पर एक नहीं दो दो राजगद्दियों को स्वीकार करने के लिए भरपूर जोर डाला। राज्यवर्धन की मृत्यु के कारण दो राजगद्दियां खाली हो गई थीं; भंडि ने कन्नौज की गद्दी स्वीकार करने के लिए उन पर जोर डाला और वृद्ध सेनापति सिंहनाद ने स्थाण्वीश्वर की गद्दी के लिए।

राजगद्दी स्वीकार न करने के लिए ''धार्मिक'' कारण क्या हो सकते थे, यह अज्ञात है। कुछ की धारणा है कि अपने जीवन के प्रारंभिक काल में हर्ष ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। पर इस धारणा के पीछे खींचातानी ही दिखाई देती है, क्योंकि, पहले तो, यह याद रखने की बात है कि हर्ष उस समय केवल बालक थे चौदह वर्ष मात्र के और दूसरे, उसी समय हर्ष ने उन सबके विरुद्ध जो उनकी अधीनता स्वीकार करने को तैयार नहीं थे प्रचंड युद्ध छेड़ देने का निर्णय कर लिया। हर्ष ने बौद्ध धर्म बहुत बाद को ही ग्रहण किया होगा अर्थात् अपनी ''दिग्विजय'' को पूरा करके ही।

जो भी हो, हर्ष ने महाराजाधिराज की पदवी नहीं ग्रहण की और वे राजपुत्र शिलादित्य कहला कर ही संतुष्ट रहे।

3

हर्ष की दिग्विजय

अपने मस्तक पर राजमुकुट रखने के लिए हर्ष राजी हुए या नहीं, यह उनके जीवन के अध्ययन के लिए इतना आवश्यक है भी नहीं। वास्तविक राजा वही थे इसमें संदेह की कोई गुंजाइश नहीं है, और प्रत्येक व्यक्ति सिंहासन पर उनके वैधानिक अधिकार को स्वीकार भी करता था। शासन सूत्र अपने हाथ में लेने के बाद उनका पहला कार्य स्वभावत: यही होना था कि वे अपने भाई की हत्या का बदला लें और अपने अधीन सामंतों पर अपना अधिकार स्थापित करें—गौड़ और मालव जैसे महासामंतों पर ही नहीं बल्कि उन सभी पर जिन्होंने यह मान लिया था कि स्थाण्वीश्वर की गद्दी हिलने लगी है। प्राय: ही देखा जाता है कि केंद्रीय नेतृत्व के कमजोर पड़ जाने पर या जब स्थानीय नेताओं के दबाव से उनकी शक्ति क्षीण होने लगती है तब, धीरे धीरे अधीनस्थ सामंतों के बीच अधिकाधिक उद्दंड होते जाने की प्रवृत्ति प्रबल हो उठती है। हर्ष का पहला कर्त्तव्य यह था कि पहली बार में ही सदा के लिए यह सिद्ध कर दें कि उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती और हर अधीनस्थ सामंत अच्छी तरह समझ ले कि उसका अस्तित्व तभी तक है जब तक कि स्थाण्वीश्वर की गद्दी उसे स्वीकार करती है। और यहीं तक नहीं, उन्होंने और भी आगे तक जाने का, और चाहे पूरब हो या पश्चिम, दक्षिण हो या उत्तर, अपने हर शक्तिशाली शत्रु को उसकी ही भूमि पर जाकर पछाड़ने का निश्चय कर डाला।

हर्ष ने अपने सामने उतना ही महत्वपूर्ण एक और भी लक्ष्य रखा था। उनकी छोटी बहन राज्यश्री की, जो अब विधवा हो गई थी, इसी मनोवृत्ति के कारण तो यह दुर्गति हुई थी कि प्रभाकरवर्धन की मृत्यु होने से लोग यह मान बैठे थे कि केंद्रीय सत्ता शिथिल हो गई है। राज्यश्री के पति की क्रूरतापूर्वक हत्या करके उसे विधवा ही नहीं बना दिया गया था बल्कि उसके साथ घोर अत्याचार किए गए थे। किसी साधारण चोर डाकू की स्त्री के ही समान उसके पांवों में बेड़ियां डाल कर उसे बंदीगृह में रखा गया था। इसलिए हर्ष को सब से पहले तो कान्यकुब्ज

के उस बंदीगृह से अपनी बहन को मुक्त करना था, और साथ ही, ऐसा जघन्य अपराध करने वाले शशांक को उपयुक्त दंड देना था। हर्ष की उस समय की मनोदशा का वर्णन बाण ने किया है। उसने लिखा है कि उस समय हर्ष नृसिंहावतार के विष्णु भगवान की भांति भयानक दिखाई दे रहे थे (हरिरिव प्रकटितनृसिंहरूप:), अथवा समस्त राजाओं को भस्म करने के लिए उद्यत जनमेजय की तरह (पारिक्षित इव सर्वभोगिदहनोद्यत:), या शत्रु के रक्त के प्यासे भीम की भांति (वृकोदर इव रिपुरूधिरतृषित:)।

सेनापति सिंहनाद ने उचित ही सलाह दी कि केवल गौड़ की ही चिंता मत कीजिए। दूसरों के साथ भी आप इस तरह पेश आइए कि उसकी राह पर चलने का दुस्साहस फिर कोई न कर सके। जमदग्नि के पुत्र परशुराम की बात याद कीजिए। उनके पिता का वध हुआ था, वे असहाय थे, उनका लालन पालन एक वन के बीच हुआ था, जन्म से ब्राह्मण होने के कारण वे प्रकृति से ही दीन थे पर एक बार बदला लेने का दृढ़ निश्चय कर लेने पर वे भी तो ढीले नहीं पड़े, और इक्कीस बार उन्होंने क्षत्रिय जाति का संहार किया। महाराजा के स्वर्गलोक प्राप्त हो जाने पर, क्रूर गौड़ द्वारा राज्यवर्धन की हत्या कर दी जाने पर और आपके सिर पर विपत्ति का यह पहाड़ टूट पड़ने पर, अब अकेले आप ही तो इस पृथ्वी की रक्षा करने के लिये बच रहे हैं। इन राजा सामंतों के सिरों पर शरद्कालीन सूर्य की किरणों जैसे तप्त अपने पांव रख कर, अपनी अशरण प्रजा को आश्वस्त कीजिए। (देव देवभूमिगते नरेन्द्रे, दुष्टगौड़भुजंगदग्धजीविते च राज्यवर्धने वृत्तेऽस्मिन् महाप्रलये धरणीधारणायाधुना त्वं शेष:। समाश्वासय अशरणा: प्रजा:। क्ष्मापतीनां शिर:सु शरत्सवितेव ललाटंतपान् प्रयच्छ पादन्यासान्)।

हर्ष ने वृद्ध सेनापति के परामर्श के अनुसार ही चलने का निश्चय किया। उन्होंने शपथ ली कि कुछ ही दिन के अंदर वे अपना काम पूरा कर डालेंगे। हर्ष ने घोषणा की "सभी राजा या तो अपने हाथों को कर देने के लिए तैयार रखें या शस्त्र उठाने के लिए, वे चाहे तो दिशाओं को ग्रहण करें या चंवरा को अपने मस्तक नवाएं या अपने धनुष; उनमें से प्रत्येक अपने कानों तक या तो मेरी आज्ञा को पहुंचने दे या धनुष की प्रत्यंचा को; वे सब के सब अपने मस्तक को या तो मेरी पदधूलि से विभूषित करें या रणसज्जा के शिरस्त्राण से"।

छोटे बड़े सभी राजाओं के लिये यह एक खुली चुनौती थी–एक या दूसरे पक्ष में अपना निर्णय करने के लिये।

और हर्ष ने कोरी धमकी नहीं दी थी। अपनी संपूर्ण गजारोही सेना के सेनाध्यक्ष को बुलाकर उन्होंने उसे आदेश दिया कि हाथियों के जो झुंड जंगलों में चरने के

लिये भेज दिए गए हों उन्हें अविलंब वापस मंगा लें क्योंकि वे दिग्विजय के लिये कूच करने वाले हैं। स्वामिभक्त सेनापति को अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करने में कोई भी आपत्ति नहीं थी, पर वे अवस्था में बड़े थे और बालक राजा को ठीक परामर्श देने से नहीं चूके। वे बोले, आपके प्रति मेरी भक्ति मुझे विवश करती है कि काम की एक बात आपसे कहूं। कृपा कर उस पर ध्यान दें। आपका जन्म एक बड़े घराने में हुआ है। पर आप चारों ओर बुरे लोगों से घिरे हुए हैं। इसलिए कृपा कर अपने आसपास के लोगों से सावधान रहिए। किसी भी व्यक्ति को आसानी से दिल की बात न जानने दीजिए। सावधान! और तब उन्होंने कुछ ऐतिहासिक उदाहरण उनके सामने पेश किए जिनमें किसी सुंदरी के प्रेम पाश में फंस कर या कुचक्रों का शिकार होकर राजा विनाश को प्राप्त हुआ। उन्होंने बताया कि ये उदाहरण कपोल कल्पना नहीं बल्कि सच्चे ऐतिहासिक तथ्य हैं, जिनमें कुछ का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी मिलता है। कुछ का उल्लेख बृहत्संहिता में भी है। राजा की गोपनीय रहस्यपूर्ण बातें इसी देश में नहीं, अन्य देशों में भी उसके किसी स्नेहभाजन व्यक्ति द्वारा, या किसी सुंदरी पर उसका अतिविश्वास हो जाने के फलस्वरूप, अथवा उसके किसी दुर्व्यसन के कारण बाहर चली जाती रही हैं। फिर वे बोले, ''देखो हर्ष, तुम्हारे भाई के साथ क्या हुआ, यह तुम देख ही चुके हो। यह संसार ऐसा ही है। सभी देशों और सभी नगरों में सभी तरह के लोग मिलते हैं। सभी पर विश्वास कर लेना यों बड़ा अच्छा गुण है और तुम्हें यह गुण अपने स्वनामधन्य पूर्वजों से प्राप्त हुआ है, पर इसके चलते सदा ही तुम्हें लाभ नहीं होगा। अपने रास्ते पर बढ़ते हुए तुम सावधान रहना, नवयुवक''।

परामर्श की इस स्वर्ण वाणी को बालक राजा ने शिरोधार्य किया और शुभ मुहूर्त देख, एक दिन अपनी कूच शुरू कर दी। उसका पहला पड़ाव सरस्वती नदी के तट पर पड़ा जहां के ग्राम अधिकारी ने उन्हें सोने की एक मुहर देते हुए उनसे एक अधिकार पत्र को मुद्रांकित कर देने का अनुरोध किया। इसी प्रसंग में एक घटना घटी जिससे हर्ष के दृष्टिकोण पर प्रकाश पड़ता है। हर्ष के हाथों से वह स्वर्ण मुद्रा जमीन पर गिर पड़ी। चारों ओर एकत्रित लोगों ने उनकी दिग्विजय के लिये उसे अपशकुन स्वरूप बताया। पर हर्ष ने इससे दूसरा ही मतलब निकाला। वे बोले, ''कुछ घटनाओं को लोग बिना पर्याप्त कारण के ही दूसरा रूप दे बैठते हैं और फिर घबड़ाने लगते हैं। इसी घटना पर विचार किया जाये। यह स्वर्ण मुद्रा धरती पर गिर पड़ी। इसका वास्तविक आशय क्या यही नहीं है कि मेरा नाम धरती माता के वक्ष पर अंकित हो गया? दूसरे शब्दों में, धरती माता पर अब मेरा अधिकार है। मैं अब सारी पृथ्वी का स्वामी हो रहा हूं''। इस कथन में युक्ति हो या नहीं,

पर इतना स्पष्ट है कि बालक होते हुए भी जीवन के प्रति हर्ष का दृष्टिकोण आशावादी था और रूढ़िवादियों के चक्कर में वे नहीं आए।

इस प्रकार सेना का बढ़ाव जारी रहा। एक दिन की लंबी यात्रा के बाद, जबकि घोड़े अस्तबलों में बांधे जा चुके थे, प्राग्ज्योतिष देश (जो अब असम कहलाता है) से वहां के राजा का एक अंतर दूत आया जिसका नाम हंसवेग था और जिसे असम नरेशकुमार अथवा भास्करवर्मन ने भेजा था। राजदूत ने कहा कि असम नरेश हर्ष के साथ अमर मैत्री के सूत्र में बंधना चाहते हैं। हंसवेग के साथ कितने ही सुंदर उपहार भी भेजे गए थे जिनमें से एक वरुण भगवान का श्वेत छत्र था। इस छत्र का इतिहास बहुत पुराना था जिसे हंसवेग ने विस्तार के साथ सुनाया और असम नरेशकुमार के पूर्वजों की वंशावली का भी वर्णन किया। इस संदेश का महत्वपूर्ण अंश था अमर मैत्री की कामना, जिसे हर्ष ने उसी क्षण स्वीकार कर बदले में अपनी मैत्री का आश्वासन दिया। भारत के सुंदरतम पूर्वी भाग के राजा के साथ यह मैत्री संबंध स्थापित करने के बाद हर्ष ने मध्यवर्ती राजाओं के विरुद्ध अपना अभियान और भी अधिक आत्मविश्वास के साथ जारी रखा। हंसवेग हर्ष की ओर से भी सौहार्दपूर्ण अभिनंदन और उतने ही सुंदर उपहारों के साथ वापस लौट गया।

असम नरेश की मैत्री के संदेश से और भी प्रफुल्लित होकर हर्ष अब अपने तात्कालिक शत्रु गौड़ के विरुद्ध तेजी से बढ़ चले। यहां यह स्मरण रखने की बात है कि उस युग में अनुभवी दूतों पर ही संचार व्यवस्था निर्भर करती थी। एक दिन जब हर्ष अपने शिविर में थे, उन्हें एक संदेश मिला कि उनका ममेरा भाई भंडि, जो मालव राज्य के विरुद्ध की गई चढ़ाई के समय राज्यवर्धन के साथ गया था, निकट ही पड़ाव डाले हुए है। दूत ने यह शुभ समाचार भी दिया कि मालवराज की पराजय हो चुकी है। कुछ ही समय बाद भंडि भी राजा हर्ष के समक्ष आ उपस्थित हुआ और उसने राज्यवर्धन की पूरी कहानी सुनाई। उसने हर्ष की बहन राज्यश्री का भी समाचार दिया। उसने बताया कि वह बंदीगृह से मुक्त हो चुकी है पर तत्काल उसका कुछ भी पता नहीं है क्योंकि वह जंगलों में जा छिपी थी। इसका कारण यह था कि राज्यवर्धन की हत्या के बाद उसे डर था कि उसे और भी यातनाएं दी जाएंगी। यह सुनकर हर्ष का हृदय स्वभावत: द्रवित हो गया और अपनी छोटी बहन को खोज निकालने के लिए वे बहुत ही आतुर हो उठे। यह अज्ञात ही रह गया है कि गौड़राज शशांक के साथ, जिसने हर्ष के बड़े भाई राज्यवर्धन की धोखा देकर हत्या कर दी थी, भंडि ने क्या सलूक किया। पर ऐसा प्रतीत होता है कि हर्ष की सेनाओं द्वारा पराजित हो जाने के बावजूद, वह बंदी नहीं बनाया जा सका और किसी प्रकार बच निकला। इस बात का प्रमाण मौजूद है कि बारह वर्ष बाद

तक भी वह राजा बना रहा। संभव है कि 637 ईसवी में शशांक की मृत्यु हो जाने के बाद ही हर्ष ने पश्चिम बंगाल पर अधिकार किया हो।

जो भी हो, हर्ष ने राज्यश्री को खोज निकालने का पक्का निश्चय कर लिया और उनका सारा ध्यान इसी ओर लग गया। वे विंध्य पर्वत के जंगलों में जा घुसे, बिना यह जाने हुए कि वह अभागी राजकुमारी कहां होगी। किंतु उन्हें निर्घात नाम का एक भील मिला जो भीलों का प्रधान सेनापति था। उसने उन्हें दिवाकर मित्र नाम के एक साधु की कुटी में जाने की सलाह दी। दिवाकर मित्र हिंदू धर्म छोड़ बौद्ध हो गए थे। उनकी कुटी में रहते समय हर्ष को वहां आनेवाले एक भिक्षु से खबर मिली कि एक युवती आग में जलकर आत्महत्या करने पर उतारू है। अपनी बहन का पता लगाने के लिए हर्ष व्याकुल तो थे ही, उन्हें लगा कि अवश्य यह राज्यश्री ही होगी। उनका अनुमान सच ही निकला। वे उसी दम उस ओर दौड़ पड़े और उसकी उस कुकृत्य से रक्षा की। भाई बहन का पुनर्मिलन हुआ। बहन ने उन्हें बताया कि सारी आशा गंवा कर किस तरह से उसने आत्महत्या करने की ठान ली थी। अब जब वह बच ही गई थी तो उसने गेरुआ कपड़े पहन संयासिनी होना चाहा। पर हर्ष ने उसे अपने साथ रहने को कहा।

हर्ष अब चक्रवती राजा बनने के लिये पूरी तरह से स्वतंत्र थे। उनके सामने जो तात्कालिक दो कार्य थे वे पूरे हो ही चुके थे। उनके भाई की और उनकी भगिनी के पति की हत्या करने वाले दोनों ही राजा पददलित हो चुके थे। अब उन्होंने एक बहुत बड़ी सैन्यवाहिनी एकत्र की जिसमें पांच सहस्त्र गजारोही, बीस सहस्त्र अश्वारोही और पचास हजार पदातिक (पैदल सेना) थे। युआन च्वांग के विवरण के अनुसार, पहले वे पूरब की ओर बढ़े। यह स्वाभाविक ही था। उनकी युद्ध नीति को समझने के लिए यह आवश्यक है कि तत्कालीन भारत के विभिन्न भागों की राज सत्ताओं का एक चित्र हमारे सामने हो।

हर्ष के पूर्वज 'महाराजा' कहलाते थे, जो साधारण राजाओं के लिये ही व्यवहार में आता था। आशय यह है कि उस समय स्थाण्वीश्वर एक छोटा सा ही राज्य था। राजा प्रभाकरवर्धन ने उसे बहुत ही शक्तिशाली और बड़ा बनाया। बाण ने प्रभाकरवर्धन का वर्णन इस प्रकार किया है, ''हूण रूपी हिरन के लिये सिंह, सिंघ देश के राजा के लिये ज्वर-रूप, गांधार-राज रूपी हिरन के लिए हस्तिवात ज्वर के समान, गुर्जरों की निद्रा हरण करने वाले, लाटों की अराजकता के लिये दस्यु की भांति, मालव-लता के लिये कुठार (हूणहरिणकेसरी, सिन्धुराजज्वरो, गुर्जर-प्रजागरो, गंधाराधिपगन्धद्रिवकूटपाकलो, लाटपाटवपाटच्चरो, मालव-लक्ष्मीलतापरशुः)''।

यहां छः राज्य गिनाए गए हैं जिन्हें प्रभाकरवर्धन ने अगर जीत कर अपने अधीन

नहीं कर लिया था तो कम से कम उन्हें आतंकित तो कर ही रखा था। इस प्रकार, हर्ष को उत्तराधिकार स्वरूप जो राज्य प्राप्त हुआ उसके उत्तर-पश्चिम में हूणों का अधिकार था, पश्चिम में गुर्जरों का ('गुर्जर' से आधुनिक गुजरात का आशय नहीं है, बल्कि पुराने पंजाब और सिंध के गुजरात जिले के निकट के क्षेत्र का, जो अब पाकिस्तान में है), दक्षिण-पश्चिम में लाटों का (अर्थात गुजरात स्थित भड़ौंच के निकट का क्षेत्र) और पूर्व में वह गौड़ साम्राज्य से, जो मोटे तौर पर आज का बंगाल है, संलग्न था ।

जैसा कि कहा ही जा चुका है, अपनी बहन के प्रति हुए अत्याचार और अपने भाई की हत्या का बदला लेने के अपने तात्कालिक लक्ष्य को हर्ष लगभग प्राप्त कर चुके थे। जहां तक कि पहली बात का संबंध है, राज्यश्री के पति की हत्या करने के बाद गौड़राज शशांक मोखरि राज्य पर अधिकार किए बैठा था। भंडि और उसकी सेना के सफल आक्रमण के फलस्वरूप, उसके वहां से भाग खड़े होने पर, कन्नौज की राजगद्दी खाली पड़ी थी। गौड़राज ने कन्नौज पर से अपना अधिकार क्यों छोड़ दिया था, इसका एक और भी कारण था। हर्ष और कामरूप के राजा भास्करवर्मन के बीच हुई मैत्रीपूर्ण संधि की बात उसके कानों तक भी अवश्य पहुंची होगी। इस मैत्री संबंध के फलस्वरूप गौड़ चक्की के दो पाटों के बीच पड़ गया था और इसीलिए कन्नौज से भाग खड़े होने में ही उसने बुद्धिमानी देखी।

कन्नौज का राजा उस समय बड़ी मुसीबत में पड़ गया था। मौखरिराज की हत्या कर दी गई थी और बलपूर्वक उस पर अधिकार कर लेने वाला गौड़राज शशांक उसे और भी बुरी हालत में छोड़ भाग खड़ा हुआ था। राज्य को एक बड़े शासक की जरूरत थी जो न सिर्फ उसे बाहरी हमलों से बचा सकता बल्कि उचित शासन व्यवस्था द्वारा उसे आंतरिक स्थिरता भी दे सकता। अंतिम मौखरिराज की मृत्यु के बाद उनका कोई उत्तराधिकारी नहीं था (राज्यश्री का पति ग्रहवर्मन मार ही डाला गया था)। बाण के अनुसार ''शेष'' सभी संबंधी लापता हो गए थे, या गौड़राज द्वारा एक तरह से उनका सफाया ही कर दिया गया था। मौखरि का राजमुकुट अब विधवा राज्यश्री के मस्तक पर रखा जा सकता था, पर एक तो वह नारी थी, दूसरे इस प्रकार के उत्तरदायित्व की दृष्टि से बहुत ही अल्पवयस्क। फिर, वह संसार को त्याग देने का दृढ़ निश्चय कर चुकी थी।

ऐसी स्थिति में कन्नौज की गद्दी पर बैठने के लिए यदि हर्ष से अनुरोध किया गया तो यह स्वाभाविक ही था। कन्नौज के राजसभासदों ने उनसे अनुरोध किया। ''हे हर्ष, अब आप ही यहां की भूमि पर शासन करते हुए अपनी कीर्ति बढ़ाइए, अपने देश के शत्रुओं पर विजय प्राप्त कीजिए, आपके राज्य पर जो कलंक लग

गया है उसे धो डालिए।'' हर्ष कुछ समय के लिए तो दुविधा में पड़े रहे, कुछ तो इसलिये कि कन्नौज की राजगद्दी लेने के औचित्य के बारे में उनके मन में संदेह था, और कुछ इसलिए भी कि सभी से सहयोग मिलने की आशा उन्हें नहीं थी। किंतु अंत में बोधिसत्व अवलोकितेश्वर की अनुमति मिल जाने पर उन्होंने राजगद्दी ग्रहण करना स्वीकार कर ही लिया। फिर भी वे अपने को ''कुमार'' ही कहते रहे और, जैसा कि चीनी ग्रंथ 'फौग चि' से प्रगट होता है, अपनी विधवा बहन के साथ मिलकर वे राज्य की शासन व्यवस्था चलाते रहे। किंतु ऐसा लगता है कि शुरू शुरू में हर्ष के मन में इस संबंध में जो झिझक थी वह अधिक शक्तिशाली बन चुकने पर जाती रही, और किसी समय स्थाण्वीश्वर और कन्नौज के दोनों ही राज्य एक शासक के अंतर्गत न केवल एक कर दिए गए, बल्कि हर्ष ने कन्नौज को ही अपनी राजधानी बना डाला। राजधानी को बदलने का अवश्य दूसरा भी कारण हो सकता है। स्थाण्वीश्वर एक कोने में पड़ता था और जब हर्ष का साम्राज्य लगभग समूचे उत्तरी भारत में फैल गया तब कन्नौज की केंद्रीय स्थिति की ओर अवश्य उनका ध्यान गया होगा। फिर, स्थाण्वीश्वर इस नवस्थापित साम्राज्य के उत्तर-पश्चिमी भाग में पड़ता था, और कम से कम आततायी हूणों के आक्रमणों का भय कहीं अधिक था।

युआन च्वांग ने हर्ष की दिग्विजय की बड़ी ही रंगीन तस्वीर खींची है कि किस तरह उन्होंने ''पूर्व की ओर बढ़ते हुए अधीनता न स्वीकार करने वाले राज्यों पर चढ़ाई की और निरंतर युद्ध करते चले गए, और इस प्रकार छ: वर्ष के अंदर उन्होंने पांचों भारतों को लड़ कर जीता। हर्ष द्वारा जीते हुए राज्यों का युआन च्वांग ने स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। युआन च्वांग ने एक बात और कही है, ''उनके भाई को जो क्षति पहुंचाई गई थी उसका बदला लेने में और भारत के अधिपति बनने में उन्हें अधिक समय नहीं लगा''। किंतु युआन च्वांग अपने विवरण में फिर अस्पष्ट रह गया है जब वह कहता है, ''शिलादित्य महाराज ने पूर्व से लेकर पश्चिम तक के राज्यों को वशीभूत कर लिया और उनकी सेना बड़े दूर के क्षेत्रों तक जा पहुंची''। हर्ष ने किस प्रकार यह आतंकित कर डाला, यह स्पष्ट नहीं किया गया है। हर्ष के दूसरे चरितकार और समकालीन बाण ने भी हर्ष महान की प्रशंसा के पुल तो बहुत बांधे हैं पर उनकी दिग्विजय का विवरण उसने भी नहीं दिया है। यत्र-तत्र उसने इतना ही उल्लेख किया है कि हर्ष गौड़ युद्ध की तैयारियों में व्यस्त थे, या यह कि उन्होंने ''सिंधुराज को पछाड़ दिया'', या इससे कर वसूल किया जिससे उसका आशय संभवत: नेपाल से रहा होगा। इसके अतिरिक्त, हर्ष को ''चारों सागरों का स्वामी'' बताया गया है, ''जिनके चरण-नख सभी

महाराजाधिराजों'' अथवा सभी महाद्वीपों के राजाधिराजों के ''मुकुट मणियों से जाज्वल्यमान रहते हैं''। इन सब प्रशंसात्मक बातों को अवश्य कुछ अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता। यह नहीं कि हर्ष द्वारा लड़ी गई लड़ाइयों में उनकी विजय के बारे में संदेह की कोई गुंजाइश है, पर हर्ष का साम्राज्य केवल उत्तर भारत तक ही फैला हुआ था, और उसके भी वे पश्चिमी भाग जो आज के राजस्थान और सिंघ हैं उसमें शामिल नहीं थे। पूर्व में भी आधुनिक बंगाल वाले भाग का तत्कालीन शासक शशांक पूरी तरह पराजित नहीं हुआ था, क्योंकि काफी बाद तक 619 ईसवी तक भी, बार बार उसका उल्लेख गौड़राज के रूप में किया गया है। फिर, कामरूप अथवा आधुनिक असम, और पूर्व बंगाल का कुछ भाग लेकर जो अंचल बनता है, ''मैत्रीपूर्ण'' माना गया है, हर्ष द्वारा ''विजित'' नहीं। पाठकों की सुविधा के लिये हर्ष के साम्राज्य विस्तार को मोटे तौर पर दिखाने वाला एक मानचित्र इस पुस्तक के अंत में दिया जा रहा है।

अब हम हर्ष की दिग्विजय पर आएं।

मालव को पराजित कर, और शशांक को मौखरि राज्य छोड़ भाग खड़े होने के लिए विवश करने के बाद, जब हर्ष कामरूप (असम) के राजा से मैत्री संबंध स्थापित कर चुके तब तक वे शेष मध्यवर्ती राज्यों के लिये काफी अधिक शक्तिशाली बन चुके थे। इन सभी को उनके सामने झुकना पड़ा और वे उन्हें कर देने लग गए। इस प्रकार उत्तर-पश्चिम स्थित स्थाण्वीश्वर से लगा कर ठीक कामरूप की सीमा तक हर्ष की विजय पताका फहराने लगी थी। नेपाल पर भी उनके चढ़ाई करने की बात आई है। कुछ नेपाली अभिलेख मौजूद हैं जिनमें नेपाल नरेश को केवल सामंत कहा गया है और युआन च्वांग ने उसका उल्लेख एक ''हाल के राजा'' के रूप में किया है। नेपाल में हर्ष संवत् का प्रारंभ संभवतः उनकी नेपाल विजय के बाद हुआ। बाण ने अपने 'हर्षचरितम्' में बताया है कि हर्ष ने ''हिमाच्छादित पर्वतों के दुर्गम पथ वाले'' नेपाल से कर वसूल किया (अत्र परमेश्वरेण तुषारशैलभुवो: दुर्गाया गृहीत: कर:)। किंतु स्पष्ट रूप से इस बात का उल्लेख कहीं नहीं मिलता कि हर्ष ने नेपाल पर कब आक्रमण किया, युद्ध में वे किस तरह पेश आए और युद्ध का ठीक ठीक क्या परिणाम निकला। बाण ने केवल इतना ही कहा है कि हर्ष ने एक कठिन और दुर्गम पथ वाले बर्फीले देश से कर वसूली की। बाण के इन शब्दों, ''दुर्गाया गृहीत: कर:'', का कुछ ने यह अर्थ किया है कि ''दुर्गा का पाणिग्रहण किया''। किंतु, हर्ष ने हिमालय की किसी राज कन्या से विवाह किया था, इस बात की कहीं से पुष्टि नहीं होती। हम तो बस इतना ही जान पाते हैं कि हर्ष ने पूर्व में और पश्चिम में, उत्तर में और दक्षिण में प्रचंड युद्ध किए और ''पंच भारत'' को वशीभूत किया।

अपनी दिग्विजय के समय हर्ष ने मगध पर अधिकार जमा लिया था। युआन च्वांग हमें पूर्णवर्मन नाम के एक राजा के बारे में बताता है जो महान अशोक का अंतिम वंशज था और जो सातवीं सदी के आरंभ में राज कर रहा था। इस राजा ने शशांक द्वारा काट डाले गए बोधिवृक्ष को पुनर्जीवित किया था (जिसका तात्पर्य यही है कि बौद्ध धर्म की फिर से स्थापना की)। पूर्णवर्मन की मृत्यु के बाद, जान पड़ता है, यह राज्य हर्ष के अधिकार में चला गया। चीनी प्रलेखों में हर्ष को ''मगधराज'' कहा गया है। युआन च्वांग ने भी इस बात का उल्लेख किया है कि शिलादित्य (अर्थात् हर्ष) ने नालंदा में एक कांस्य मंदिर बनवाया, जहां हर्ष की मुद्राएं भी प्राप्त हुई थीं।

मालूम होता है कि अपने शासनकाल के पिछले भाग में हर्ष ने तत्कालीन वू-तू अथवा आधुनिक उड़ीसा, पर भी आक्रमण करके उसे वशीभूत कर लिया था। युआन च्वांग जब देश के इस भाग में पहुंचा था तब, उसके अनुसार, वह कन्नौज के राजा, अर्थात् हर्ष, के अधिकार में था। ऐसा लगता है कि उन्होंने वू-तू को अपने राज्य की एक जबर्दस्त सीमावर्ती चौकी के रूप में परिणत कर दिया था। इस बात का उल्लेख है कि कोंगोड़ (आधुनिक गंजाम जिला) को जीत कर शिलादित्य हर्ष ने कुछ समय के लिये वू-तू में अपना पड़ाव डाला और जयसेन को ''अस्सी बड़े ग्रामों की मालगुजारी'' उपहारस्वरूप दे डाली।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कामरूप (असम) के राजा के साथ हर्ष की मैत्री संधि हो चुकी थी। युआन च्वांग के अनुसार, ''राज्य का शासक एक ब्राह्मण राजा भास्करवर्मन, उर्फ कुमार, था जिसने हजारों पुश्त से चले आने वाले इस राज्य को अपने वंश परंपरागत उत्तराधिकार में पाया था''। स्पष्ट ही इस कथन में बहुत बड़ी अत्युक्ति है। जो भी हो, भास्करवर्मन को अपने निकट के पड़ोसी शशांक की बढ़ती हुई प्रतिष्ठा से घबड़ाहट थी, जो साथ ही साथ राज्यवर्धन का हत्यारा भी था। भास्करवर्मन ने जिस कारण कीमती उपहारों के साथ मैत्री का संदेशा लेकर अपना दूत हर्ष के पास भेजा था उसके पीछे अपने पड़ोसी का डर भी काम कर रहा होगा। जो भी हो, मित्रता के इस नए संबंध का अच्छा फल हर्ष और भास्करवर्मन दोनों को ही मिला। यह मैत्री दो समान रूप से शक्तिशाली राजाओं के बीच थी, यद्यपि बाण ने इस बात का उल्लेख किया है कि हर्ष ने कामरूप के राजा का अभिषेक किया (अत्र देवेन अभिषिक्त: मार:), जिससे वह यह सिद्ध करना चाहता है कि हर्ष उससे कहीं अधिक बड़े हैं। संभव है कि यहां बाण ने भास्करवर्मन के नहीं बल्कि हर्ष के एक अन्य बंधु माधवगुप्त के अभिषेक की ओर संकेत किया हो जिसे हर्ष ने मगधराज का शासन भार सौंपा था।

हर्ष से संबंधित एक घटना और है जिससे न कामरूप नरेश का चित्र उज्जवल रूप में निखर कर सामने आता है और न युआन च्वांग का। बताया गया है कि हर्ष ने चीनी यात्री को, जो कामरूप के नरेश भास्करवर्मन के यहां ठहरा हुआ था, अपने यहां आने का निमंत्रण भिजवाया। पर हर्ष को जवाब मिला कि वे "उस यात्री का सिर भले ही ले सकते हैं," अर्थात्, उनकी हिम्मत हो तो वे ऐसा कर देखें। कहा जाता है कि हर्ष ने इसका यह उत्तर भेजा कि वे केवल सिर को ही लेने की व्यवस्था करेंगे। इस कथा में आगे चल कर कहा गया है कि इसके बाद ही अर्थात् हर्ष की शक्ति का पता लग जाने के बाद ही दोनों राजाओं के बीच मैत्री की स्थापना हुई। पर यह कथा निराधार मालूम होती है, क्योंकि युआन च्वांग हर्ष की राजसभा में 643 ईसवी में पहुंचा था, जबकि वह मैत्री संधि तीस वर्ष पूर्व ही हो चुकी थी।

इस प्रकार अपने सभी शत्रुओं को पराजित करके और असम नरेश के साथ दृढ़ मैत्री के सूत्र में बंध जाने पर, हर्ष ने पंजाब से लेकर बंगाल तक सारे उत्तर भारत पर अपने प्रभाव का विस्तार कर लिया। पर दिग्विजय की उनकी प्यास फिर भी नहीं बुझी। अब उन्होंने पहले पश्चिम की ओर बढ़ने का निश्चय किया, और फिर दक्षिण की ओर। विन्ध्याचल के दक्षिणवर्ती अंचल पर, पुलकेशी द्वितीय नाम का एक महाराष्ट्रीय राजा राज करता था। यह राजा अपने अंचल में बहुत ही शक्तिशाली हो बैठा था और हर्ष की महत्त्वाकांक्षा के लिये सचमुच ही वहां एक खतरा था। किंतु पुलकेशी द्वितीय ने हर्ष के सामने, जिन्हें अब तक अपनी शक्ति का कुछ घमंड भी हो उठा था, झुकना अस्वीकार कर दिया। पुलकेशी द्वितीय शक्ति में हर्ष से बढ़ चढ़ कर ही था और यदि वह अपने को "संपूर्ण दक्षिण अंचल का स्वामी" (दक्षिणापथपृथव्या: स्वामी) मानता था, तो यह ठीक ही था।

पुलकेशी द्वितीय को उत्तराधिकार में एक विस्तृत राज्य प्राप्त हुआ था जो उत्तर में विन्ध्याचल से लगा कर दक्षिण में ठेठ पल्लव राज्य की सीमा तक पहुंच गया था। गुजरात और कलिंग के राजाओं को वह पहले ही हराए बैठा था। हर्ष के साथ उसका युद्ध संभवत: 634 ईसवी में हुआ। 636 ईसवी के अभिलेखों में इसका उल्लेख है, और इनमें पुलकेशी द्वितीय को हर्ष के विजेता के रूप में अथवा ऐसे राजा के रूप में पेश किया गया है जिसने हर्ष के चेहरे को हर्ष रहित कर दिया (हर्षविछेदहेतु:), और यह भी उल्लेख है कि "हर्ष के हाथी उसके द्वारा मार डाले गए और जिसके चरण राजाओं के मस्तकों की मुकुट मणियों से (जो उसके सामने सिर नवाते थे) घिरे रहते थे उस हर्ष का सारा हर्ष उसने हर लिया"। (अपरिमित विभूतिस्फीतसामन्त सेनामुकुटमणि मयूखाक्रान्तपादारविन्दो युधि पतित

गजेन्द्रानिकविभ्रत्स भूतो भयगलितहर्षो येन चाकारि हर्ष:)। चालुक्यराज पुलकेशी द्वितीय ने ''परमेश्वर'' की उपाधि भी ग्रहण की थी। इस वीर महाराष्ट्रीय राजा द्वारा हर्ष की सेनाओं की सातवीं सदी में होने वाली वह पराजय, प्राचीन महाराष्ट्र के इतिहास का एक सुनहरा पृष्ठ है। इस पराजय ने हर्ष की दिग्विजय को भी बीच ही में रोक दिया।

युआन च्वांग के विवरण से ऐसा लगता है कि हर्ष ने अपने सारे युद्ध अपने राज्यकाल के प्रथम छ: वर्षों में ही किए (अर्थात 606 से 612 ईसवी के बीच), और उसके बाद 30 वर्ष तक वे शांतिपूर्वक राज्य करते रहे। चीनी भाषा के उसके वे शब्द, ज्यों के त्यों, इस प्रकार हैं, द्वई सान श्रनियेन पिंगू रव पुचि... ''चुई'' शब्द को जो अर्थ किया गया है वह है, ''राजकीय परिधान धारण करना।''

यह चीनी यात्री हर्ष की राजसभा में 636 ईसवी में पहुंचा था। इसने वस्तुत: जो बात कहनी चाही है वह यही है कि हर्ष के राज्य में शांति विराज रही थी। यह बिल्कुल साफ है कि हर्ष के युद्ध कम से कम 643 ईसवी तक तो जारी थे ही जबकि उन्होंने कोंगोड़ (आधुनिक गंजाम जिला) पर विजय प्राप्त की। यही नहीं, दक्षिण की ओर बढ़ने के पहले हर्ष भारत के पश्चिमी हिस्से में भी एक युद्ध कर चुके थे। युआन च्वांग ने लिखा है कि वलभीराज ध्रुवसेन प्रकृति से जल्दबाज था और उसमें गंभीरता नहीं थी। उसका विशेष गुण यही था कि वह बौद्ध था। हर्ष ने उसे युद्धभूमि में तो पराजित किया, पर उसके बाद उसके साथ अच्छी तरह पेश आए। स्पष्ट ही इसका कारण यह था कि वह वलभीराज का उपयोग शक्तिशाली चालुक्य राज पुलकेशी द्वितीय के विरुद्ध करना चाहते थे। इसी कारण हर्ष ने ध्रुवसेन को फिर उसकी गद्दी पर प्रतिष्ठित कर दिया, और यह भी कहा जाता है कि हर्ष ने उसके साथ अपनी कन्या का विवाह भी कर दिया। साफ जान पड़ता है कि इस विवाह का उद्देश्य राजनैतिक था। जो भी हो, हर्ष ने अपनी पश्चिमी सीमा को अच्छी तरह सुरक्षित कर लेने के बाद ही पुलकेशी द्वितीय के विरुद्ध युद्ध छेड़ा। जैसा कि कहा ही जा चुका है, इसके बावजूद पुलकेशी द्वितीय के आगे उन्हें पराजित होना पड़ा। फिर भी मानना पड़ेगा कि हर्ष युद्ध नीति के महारथी थे। कामरूप के साथ होनेवाली उनकी मित्रता की संधि का ही यह परिणाम था कि गौड़राज पर उन्हें आसानी से विजय मिल गई और उसे कन्नौज की मौखरि राजगद्दी को हर्ष के लिये छोड़ अपने इलाके में ही सिमट कर रह जाना पड़ा। वलभीराज की पराजय और उसके बाद उसके साथ होने वाले समझौते के फलस्वरूप हर्ष ने कम से कम इसकी तो पक्की व्यवस्था कर ही ली कि वलभीराज्य के रास्ते पुलकेशी द्वितीय उनके अपने साम्राज्य में नहीं घुस पाया। पर हर्ष के दुर्भाग्य से पुलकेशी द्वितीय

उनसे भी बढ़कर निकला और उस के शक्तिशाली साम्राज्य के गढ़ को तोड़ने में वे असमर्थ रहे। जिस प्रकार हर्ष अधिकांश उत्तर भारत के अधिपति बन चुके थे उसी प्रकार पुलकेशी द्वितीय भी संपूर्ण दक्षिण भारत का स्वामी बन चुका था।

संभवत: इस पराजय के बाद ही हर्ष ने शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत करने का निश्चय किया होगा । विन्ध्याचल से उत्तर के अंचल में छोटे बड़े सभी ने एक स्वर से उन्हें एक चक्रवर्ती राजा के रूप में स्वीकार किया। हर्ष ने 642 ईसवी में चीनी राजा ताइ ताउंग की राजसभा में एक ब्राह्मण को अपना राजदूत बना कर भेजा था। चीन का गैर सरकारी प्रतिनिधि युआन च्वांग तो पहले से ही भारत में मौजूद था और विभिन्न राज्यों में भ्रमण कर रहा था।

हर्ष को अपनी दिग्विजय में जो सफलता मिली उसका कारण उनका शक्तिशाली सैन्य दल था जिस में हाथी, घोड़े, रथ और पदातिक (हस्त्यश्वरथपदाति) सभी थे। 5,000 हाथियों, 2,000 घोड़ों और 50,000 पदातिकों की अपनी प्रारंभिक सेना को हर्ष ने बाद में इस हद तक बढ़ा लिया था कि उसमें 60,000 हाथी हो गए थे और 1,00,000 घोड़े। हर्ष का निमंत्रण पाकर जब बाण उनके यहां गया था उस समय उसने जो देखा और सुना उसका बड़ा विशद् वर्णन किया है। हर्ष के प्रिय हाथी दर्शपात के वर्णन में तो उसने कई पृष्ठ रंग डाले हैं। ये हाथी हर्ष द्वारा युद्ध में पराजित राजाओं से कर के रूप में प्राप्त हुए थे या उपहारस्वरूप। उनकी अश्वशाला वनायु, आरट्ट, कम्बोज, भारद्वज, सिंधु और ईरान जैसे कई देशों के घोड़ों से भरी हुई थी। इन सब की सेवा करने और किसी क्षण भी युद्ध के लिये उन्हें रवाना कर देने की दृष्टि से परिचारकों की भी जो एक पूरी की पूरी सेना सी नियुक्त थी, उसका भी बाण ने विस्तृत विवरण दिया है। इनके नाम थे कटुक, नालिवाहक, वल्लभ-पाल अनायत्त, हस्ति, पार्श्वरक्षिन, घटिक, आदि।

4

हर्ष का शासन

उस युग में शासन सत्ता पूरी की पूरी राजा में निहित रहा करती थी। राजा के नाम पर जो कुछ किया जाता था उसका केवल वैधानिक दृष्टि से ही वह निर्णायक नहीं होता था बल्कि सारे वास्तविक अधिकार भी उसी के हाथों में रहते थे, सिवा उनके जिन्हें वह अपने कर्मचारियों को स्पष्ट रूप से सौंप देता था। हर मुकदमे की आखिरी सुनवाई करने वाला सर्वोच्च न्यायाधीश वही था और वही कर लगाने वाले कानून बनाता था और जिन्हें चाहता कर देने से छुटकारा दिला सकता था। सेना के तत्कालीन चारों विभागों–हस्ती, अश्व, रथ और पदाति का वही सर्वोच्च सेनापति था, और इन सब के अलावा वही सर्वोच्च धार्मिक अधिकारी होता था।

इन सारी परेशानियों और बोझों को लिए हुए राजा को साल में बारहों महीने और अपने दिन का सारा वक्त कड़े परिश्रम में बिताना पड़ता। युआन च्वांग के अनुसार, ''हर्ष का दिन तीन भागों में बंटा था, जिनमें से एक वे प्रशासन कार्य के लिए सुरक्षित रखते थे और बाकी दो धर्म कार्यों के लिये। यह काम करते कभी थकते नहीं थे और पूरा का पूरा दिन उनके लिये छोटा ही पड़ता था''। पर इसका मतलब यह नहीं समझना चाहिए कि वे सारे दिन अपने महल में ही बने रहते थे। प्राय: ही वे राजधानी से बाहर जाते रहते थे। युआन च्वांग कहता है–''नगरों के लोगों में अगर कहीं भी कोई विशृंखलता दिखाई देती थी तो वे उन्हीं के बीच दिखाई देते थे''। वे अपने राज्य भर में दौरे करते रहते थे और किसी भी एक स्थान पर अधिक समय तक न रह, हर पड़ाव पर ठहरने के लिए अस्थाई भवन बनवा लेते थे। किंतु वर्षाकाल के तीन महीने वे कहीं बाहर नहीं जाते थे। ये सभी अस्थाई राजभवन अंत में बौद्ध भिक्षुओं और ब्राह्मणों के उपयोग के लिये दे दिए जाते थे। हर्ष के मतानुसार न्याय के पलड़ों को बराबर बराबर रखा जाना चाहिए और अपराधियों को दंड और भले लोगों को पुरस्कार दिया जाना चाहिए। युआन च्वांग की हर्ष से जब पहली मुलाकात हुई तब वे अपने साम्राज्य के विभिन्न भागों के दौरे पर थे। सुदूर बंगाल में उनका पड़ाव था। बांसखेड़ा और मधुबन के ताम्रपत्रों में भी

राजधानी से दूर दूर के स्थानों में हर्ष के पड़ावों का उल्लेख है। इससे पता लगता है कि युआन च्वांग के अनुसार हर्ष आरामतलब और विलासी राजा नहीं थे बल्कि अपनी प्रजा के हित साधन में ही निरंतर तत्पर रहते थे।

युआन च्वांग ने दिखलाया है कि राजा हर्ष का दिन किस प्रकार तीन भागों में बंटा रहता था और वे कितना कड़ा परिश्रम करते थे। अपने काम के आगे वे खाना पीना और सोना भी भूल जाते थे। बाण ने भी राजा की दिनचर्या का विशद् विवरण दिया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, बाण को हर्ष ने ही बुलवा भेजा था। वस्तुत: बाण के विरुद्ध एक अभियोग था और उसी की सफाई देने के लिये वह बुलाया गया था। बाण जब उनसे मिला तब वे अजरावती नदी के तट पर पड़ाव डाले हुए थे। राजा से भेंट करना आसान काम नहीं था क्योंकि उनसे मिलने के लिये अन्य कितने ही व्यक्ति उतनी ही उत्सुकता के साथ, प्रतीक्षा कर रहे थे। बाण ने वहां उनके शत्रुओं को भी पाया जो अब पराजित किए जा चुके थे, साथ ही राजा के अधीनस्थ सामंतों को भी जो उनसे भेंट होने के अवसर की प्रतीक्षा में विभिन्न शिविरों में डेरा डाले हुए थे (प्रख्यातनां क्षितिभुजां बहून् शिविरसंनिवेशान् वीक्षमाण:)। उनमें से कितनों ने ही तो प्रतीक्षा में पूरा का पूरा दिन बिता दिया था कि संयोग से ही राजा के साथ क्षण भर की भेंट हो सके।

छोटे मोटे राजों महाराजों से खचाखच भरे हुए तीन तीन चौकों को पार करने के बाद ही कहीं चौथे प्रांगण में बाण को महाराजाधिराज हर्ष के दर्शन मिले। वहां उनकी बगल में मालवराज भी बैठे हुए थे।

बाण की शैली बहुत ही अत्युक्तिपूर्ण अवश्य है, पर उसका बहुत सा हिस्सा छांट देने पर भी हम पाएंगे कि उस यात्रा शिविर में भी बैठे हुए महाराज हर्ष का चित्रण अत्यंत प्रभावोत्पादक हुआ है। एक नदी के तट पर डाले हुए पड़ाव में रहने पर ही अगर हर्ष की सजधज इतनी अधिक थी तो उनके राजप्रासाद की महिमा का क्या ठिकाना! दुर्भाग्यवश बाण की लेखनी से उसका कोई वर्णन हमें नहीं प्राप्त हुआ। उसने स्थाण्वीश्वर की प्राचीन राजधानी की सामान्य बातों का वर्णन करके बस यही दिखाया है कि व्यापार बड़ी तेजी पर था; एक पूरी सड़क ही बाजार की थी; राजप्रासाद की दीवारें सफेद थीं!

सम्राट के रूप में हर्ष का वर्णन बाण ने यह कह कर किया है कि वे स्वर्ण पात्रों में स्नान करते थे और ब्राह्मणों को रत्नों और स्वर्ण के पात्र दान करते थे। उनका पादपीठ सोने का था, और ऐसा प्रतीत होता है कि जब वे दौरे पर जाते थे तब उनकी विलासिता की वह सारी सामग्री साथ जाती थी। स्थानीय सामंतों को हर्ष ने इस शर्त पर शासन करने के अधिकार सौंप रखे थे कि वे उन्हें कर देते

रहें। हर्ष ने उनके साथ एक शर्त यह भी रखी थी कि जब कभी सभा सम्मेलन में उन्हें बुलाया जाएगा वे अवश्य आएंगे। इसके पीछे यही भाव काम कर रहा था कि अधीनस्थ सामंतों को यह समझने का मौका नहीं दिया जाना चाहिए कि उनके सिर पर कोई नहीं है। किसी केंद्रीय शासन के सुचारु रूप से चलने की वस्तुत: एक कसौटी यह भी है ही। केंद्रीय सत्ता को चाहिए कि अधीनस्थ सत्ता को उसके प्रशासन के सुनिश्चित क्षेत्रों में तो वह अधिकतम अधिकार दे दे, पर साथ ही इस पर भी ध्यान रखे कि वह केंद्रीय सत्ता को कमजोर न समझने लग जाय और मनमानी न करने लगे। हर्ष नियमित रूप से इस तरह के सभा सम्मेलन बुलाते रहते थे, और युआन च्वांग ने लिखा है कि हर्ष द्वारा आमंत्रित एक इसी प्रकार की धार्मिक सभा में अधिक नहीं तो अठारह करदाता सामंतगण सम्मिलित हुए थे जिनमें वलभीराज एवं कामरूप के महाराज भी थे। इनमें से अंतिम दोनों की हर्ष के साथ मैत्री की संधि थी। इन सामंतों, या कहा जाय सूबेदारों, को सभी सीमावर्ती क्षेत्रों में नियुक्त करके रखा गया था और बाण ने अपने 'हर्षचरितम्'' में भी उल्लेख किया है। उसने लिखा है, ''उस लोकनाथ (लोगों के स्वामी) ने सभी दिशाओं में लोकपाल नियुक्त कर रखे थे'' (अत्र लोकनाथेन दिशां मुखेषु परिकल्पिता लोकपाला:)। और भी निकट, अर्थात् राजधानी के अंदर भी राज कर्मचारियों की एक शृंखला सी थी, जिनका उल्लेख बाण ने अपने ''हर्षचरितम्'' में किया है। उनका एक मुखिया अथवा मुख्यमंत्री तो था ही जो शेष सभी मंत्रियों की सभा का सभापति होता था। भंडि का उल्लेख राज्यवर्धन के प्रधान परामर्शदाता के रूप में किया गया है जिसने गौड़राज के हाथों राज्यवर्धन की हत्या का समाचार पाते ही शेष परामर्शदाताओं की सभा बुलाई थी। बाण के अनुसार भंडि ने कहा ''राज्य के भाग्य का निर्णय अभी तुरंत करना है। वृद्ध राजा भी नहीं रहे, और न उनके बड़े बेटे। छोटा भाई स्नेहशील है और भगवान ने उसे जो प्रकृति दी है उसके कारण वह कर्त्तव्यनिष्ठ और आज्ञाकारी है। प्रजाजनों की निश्चय ही उसके प्रति आस्था रहेगी। इसलिये मेरा प्रस्ताव है कि वही राज का उत्तरदायित्व ग्रहण करे। फिर भी, प्रत्येक सभासद इस संबंध में अपना अपना मत प्रगट करें''।

यह अंश यह दिखलाता है कि उन दिनों भी जनता के प्रतिनिधियों के हाथों में वास्तविक शक्ति रहती थी। सच पूछा जाय तो आधुनिक से आधुनिक लोकतंत्र का भी कोई प्रधानमंत्री इससे अधिक लोकतंत्रात्मक रुख नहीं अख्तियार कर सकता। हर्ष और उनके पूर्वज जिस समाज पर शासन करते थे वह इतना उन्नत था कि शेष मंत्रियों ने भी पूरी स्पष्टवादिता के साथ अपना अपना मत प्रकट किया और उन सबने राज़मुकुट स्वीकार करने के लिये सर्वसम्मति से हर्ष से अनुरोध किया। भंडि

के अलावा बाण ने इस प्रसंग में अवन्ति का भी उल्लेख किया है जो हर्ष का युद्ध संबंधी सर्वोच्च मंत्री था। इसके बाद उसने सिंहनाद का नाम लिया है जो प्रधान सेनापति थे। वे हर्ष के पिता के बड़े ही विश्वास पात्र थे और इसलिये राजा उनके साथ बड़े ही अदब से पेश आए। बाण ने लिखा है कि हर्ष ने जब गौड़राज से बदला लेने की शपथ ली तब उन्होंने सिंहनाद के पांव छूकर उन्हें प्रणाम किया। इसके बाद इस प्रसंग में अश्वारोही सेना के प्रधान कुन्तल का और गजारोही सेना के प्रधान स्कन्दगुप्त का उल्लेख किया गया है।

इनके अलावा भी कई और कर्मचारी होते थे जिनके अलग अलग काम थे। ये थे:—

(1) शांति एवं युद्ध का प्रमुख मंत्री (महासंधिनिग्रहाधिकृत)। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, हर्ष के समय यह पद अवन्ति को मिला हुआ था।
(2) कटुक, अथवा गजारोही सेना का प्रधान सेनानायक। जैसा कि कहा ही जा चुका है, यह पद स्कन्दगुप्त को मिला हुआ था।
(3) सेनाध्यक्ष (महाबलाधिकृत:)।
(4) उपसेनाध्यक्ष (बलाधिकृत:)।
(5) अश्वारोही सेना का सेनानायक (वृहदश्ववार)।
(6) सैन्यावास का अधीक्षक (पाठीपति:)।
(7) अन्य राजाओं से संपर्क रखने वाला अधिकारी—परराष्ट्र सचिव के समान (राजस्थानीय:)।
(8) एक प्रांतीय राज्यपाल (उपरिक:)।
(9) एक जिला अधिकारी (विषयपति :)।
(10) एक न्यायाधीश (प्रमात्री)
(11) राजस्व अधिकारी या तहसीलदार (भोगिक, अथवा भोगपति:)—आदि, आदि।

इसी प्रकार के कितने ही अन्य पद थे जिनके अलग अलग कार्य क्षेत्र थे। इससे पता चलता है कि हर्ष की प्रशासन व्यवस्था बहुत ही उन्नत कोटि की थी।

हर्ष के अभिलेखों के अनुसार, संपूर्ण राज्य कई खंडों और छोटे छोटे उपखंडों में बंटा हुआ था। ये थे :—

(1) प्रांत (भुक्ति)। मधुबन के ताम्रपत्र में श्रावस्ती मुक्ति, अर्थात् श्रावस्ती प्रांत का उल्लेख है।
(2) उसका एक छोटा उपखंड, या जिला (विषय:)। मधुबन के ताम्रपत्र में कुंडधनी विषय का उल्लेख है।

(3) आधुनिक तहसील या ताल्लुके जैसा एक और भी छोटा उपखंड जिसे पठक कहा जाता था।

(4) सबसे छोटा उपखंड जो ग्राम था ही (ग्राम:)।

युआन च्वांग ने लिखा है, "चूंकि सरकार की नीति उदारतापूर्ण है, इसलिए सरकारी कामकाज अधिक नहीं है। परिवारों की पूंजी नहीं रखी जाती और लोगों से बेगार नहीं ली जाती। कर भार हल्का है और हर कोई अपने पैतृक पेशे में लग जाता है और अपनी पैतृक संपत्ति का सहारा ले उसकी रक्षा करने में जुटा रहता है"। राजस्व का प्रमुख स्त्रोत उत्पादन का परंपरागत छटा भाग है, और एक स्थान से दूसरे स्थान को विनिमय के लिए अपना माल ले जाने वाले व्यापारियों के स्थल और जल मार्गों पर लगने वाली हल्की चुंगी। कुछ अन्य करों में जिनका उल्लेख किया गया है, एक तो "तुल्यमेय" था, अर्थात वजन या परिमाण के आधार पर लगने वाला कर, और दूसरा "भाग-भोग-कर-निरन्यादि", अर्थात उत्पादन अथवा नकद व्यय, अथवा दूसरे प्रकार की आय के भोग का भाग। इनमें से अंतिम संभवत: एक प्रकार के बिक्री कर और संपत्ति हस्तांतरण कर के रूप में था।

राजस्व के रूप में प्राप्त आय के व्यय की भी हर्ष की अत्यंत परिष्कृत प्रणाली थी। यों उन दिनों सरकारी खर्च के मद स्वभावत: अधिक नहीं थे। युआन च्वांग के अनुसार, हर्ष के राजकीय व्यय के मोटे मोटे भाग थे।

राजकीय भूमि का एक भाग सरकारी और राजकीय पूजा-पाठ पर खर्च होता था, एक सरकारी कर्मचारी की वृत्ति या भरण पोषण पर, एक उच्चकोटि की बौद्धिक प्रतिभा वालों को पारितोषिक आदि देने पर और एक धार्मिक योग्यता प्राप्त करने के लिए विभिन्न धार्मिक संप्रदायों को। सचमुच आश्चर्य की बात है कि राजकीय व्यय के बारे में इतने अच्छे ढंग से विचार किया गया था। व्यय के इन मोटे मोटे चार मदों से यह पता चलता है कि अपनी प्रजा की भौतिक, और धार्मिक या आध्यात्मिक, दोनों ही प्रकार की उन्नति की राजा को कितनी चिंता थी।

अपराधियों को दंड देने की क्या व्यवस्था थी, इस पर प्रकाश नहीं पड़ता। फिर भी युआन च्वांग ने हर्ष के प्रशासन की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि प्रशासन की ईमानदारी और प्रजाजनों के आपसी सद्भाव के फलस्वरूप जुर्म करने वाला वर्ग छोटा ही है। किंतु अपने इस प्रशंसा वाक्य के बावजूद स्वयं युआन च्वांग का एक से अधिक बार चोर-डाकुओं के साथ पाला पड़ा था। एक बार तो उसे देवता की बलि चढ़ाने के लिए दस्यु पकड़ भी ले गए थे, पर सौभाग्य से वह बच गया।

किंतु युआन च्वांग चाहे जो कहे, यह नहीं माना जा सकता कि उन दिनों अपराध किए ही नहीं जाते थे। उसके उपर्युक्त कथन का इतना ही अर्थ समझा जाना चाहिए

कि जुर्म बहुत ज्यादा नहीं किए जाते थे, एक तो इसलिये कि धार्मिक भावना और ईश्वर का भय लोगों में काफी ज्यादा था और अपने दूसरे जन्म में उसकी सजा भुगतने का डर उन्हें इस जन्म में अपराध करने से रोकता था और दूसरे, अपराधियों को दिया जाने वाला दंड भी प्राय: सदा ही बड़ा कठोर होता था। फिर भी युआन च्वांग भारतीय चरित्र की अप्रत्यक्ष रूप से बड़ाई ही करता है जब वह कहता है, ''वे लोग अनुचित उपायों से कुछ भी कर लेंगे, और जितना झुकना चाहिए उससे भी ज्यादा झुक जाएंगे। दूसरे जन्म में अपने पापों का फल पाने से वे बराबर डरते रहते हैं और इस जीवन में जो कर्मफल भोगना पड़ता है उसे आसानी से सह लेते हैं। वे धोखा नहीं देते और शपथ पर लिये गये अपने वचन को भी वे निभाते हैं''। आज के युग में मनुष्य के अंदर न्याय संबंधी जो सूक्ष्म भावनाएं काम करने लगी हैं उनके कारण अपराधियों के प्रति ''बदले'' की नहीं ''सुधार'' की प्रवृत्ति को प्रधानता मिलने लगी है। इसलिए आज जो दंड दिया जाता है उसका उद्देश्य अपराधी को उत्पीड़ित करना नहीं बल्कि उसका और दूसरों का भी सुधार करना है। किंतु हर्ष के काल में, मध्ययुगीन यूरोप की ही भांति, नियमों या कानूनों का साधारण उल्लंघन करने पर भी आजीवन कारावास का दंड दे दिया जाता था; इसके अलावा कभी-कभी तो नाक या कान या हाथ काट दिये जाते थे। किसी ऐसे अपराध के लिये जिसे हम आज तक तुच्छ ही कहेंगे, देश निकाले का दंड भी दे दिया जाता था। किंतु दूसरी ओर खुशी या उत्सव के समय कुल बंदियों की आम रिहाई भी कोई असाधारण घटना नहीं मानी जाती थी। बाण ने लिखा है कि राजा के द्वितीय पुत्र, अर्थात हर्ष, के जन्म पर जब बंदियों को मुक्त कर दिया गया तब लंबी लंबी दाढ़ी बढ़ाए हुए बंदीगण, जिनकी शक्ल अस्तप्राय कलियुग के भाई-बंदों जैसी दिखाई देती थी, इधर उधर भटकते फिर रहे थे। (प्रलम्बश्मश्रुजालजटिलाननानि बहुलमलपंककलंककालकायानि नश्यत: कालिकालस्य बांधवकुलानीवाकुलानि अधावन्त मुक्तानि बंधनवृन्दानि।)

जुर्माने के रूप में भी दंड देने की प्रथा थी। इसी प्रकार एक सर्वमान्य प्रमाण यह था कि अभियुक्त अपने को निर्दोष सिद्ध करना चाहे तो स्वत: किसी प्रकार की अग्नि परीक्षा में से गुजरे। सती होने की भयावह प्रथा भी प्रचलित थी। विधवा हो जाने पर किसी पतिव्रता स्त्री के लिए संसार में कुछ भी आकर्षण नहीं रह जाता था और इसलिए अपने पति की चिता पर जल कर भस्म हो जाना वह कहीं ज्यादा पसंद करती थी। प्रभाकरवर्धन की मृत्यु होने पर रानी यशोमती ने इसी प्रकार अपने प्राण त्याग दिए थे। राज्यवर्धन शायद अविवाहित ही थे; कम से कम उनकी स्त्री के सती हो जाने की बात का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता।

उस प्राचीन काल में भी, हर्ष के जैसे विशाल राज्य में बड़े बड़े महानगरों, उनसे छोटे नगरों और फिर ग्रामों का होना अनिवार्य था। इन सबके बीच स्वभावत: राजधानी का ही महत्व सबसे अधिक था और वही सबसे अधिक समृद्धशाली नगर था। किंतु उस समय भी, जैसा कि युआन च्वांग से हमें मालूम होता है, बड़े बड़े महानगरों तक में सड़कें और गलियां टेढ़ी मेढ़ी और चक्करदार थीं। और बड़े बड़े राजमार्ग भी गंदे रहते थे।

स्थाण्वीश्वर से जब हर्ष अपनी राजधानी हटा कर कन्नौज ले आए तब से वही न केवल उनके राज्य का बल्कि संपूर्ण भारत का सबसे महत्वपूर्ण नगर हो गया। तब सभी प्रकार के कार्यों की धारा वहीं से निकल कर बहने लगी, चाहे वह सांस्कृतिक धारा हो, या शिक्षा संबंधी अथवा धार्मिक। कन्नौज के आगे मगध की राजधानी पाटलिपुत्र भी फीकी पड़ गई। कन्नौज नगर की लंबाई लगभग पांच मील और चौड़ाई करीब सवा मील की होगी। उस समय की परंपरा के अनुसार नगर के चारों ओर प्राचीर थी और मकान कई मंजिल के थे। नगर के अंदर सुंदर बाग-बगीचे और स्वच्छ जल से भरे जलाशय थे। उन दिनों कन्नौज और पाटलिपुत्र के अलावा कुछ और भी महत्वपूर्ण नगर थे। बनारस या वाराणसी दीर्घकाल से हिंदू धर्म का एक गढ़ बना हुआ था। किंतु युआन च्वांग ने बौद्धों के प्रति विशेष भक्ति रहने के कारण उसके बारे में लिखा है कि वहां ''नास्तिक'' लोग बसते थे। आज की ही भांति सातवीं सदी में भी वाराणसी में पत्थर की मूर्तियों और लकड़ी की नक्काशी वाले अनेकानेक मंदिर और भवन थे। उज्जयिनी, जो कुछ ही पहले तक गुप्तवंशी राजाओं की राजधानी रही थी, अब भी विद्या और पांडित्य का एक प्रमुख केंद्र थी। उज्जैन में उन्हीं दिनों स्थापित जन्तर मन्तर की ख्याति आज तक कायम है। उस नगर में बड़े ही भव्य राजप्रासाद बने हुए थे। मेघदूत में कालिदास ने यक्ष के मुंह से कहलाया है, ''हे मेघ, उत्तर की ओर जाने के तुम्हारे मार्ग में भले ही उज्जयिनी न पड़ती हो, पर तुम इस विख्यात नगर में जाने से मत चूकना''। (वक्र: पन्था यद्यपि भवत: प्रास्थितस्योत्तराशां सौद्योत्सर्गप्रणयविमुखो मा स्म भूरूज्जयिन्या: ।) वस्तुत: यह नगर हर्ष के काल में भी महत्वपूर्ण था। फिर मथुरा नगर था जिसमें कृष्ण भगवान ने अपने बाल्यकाल के दिन बिताए थे और जो अब बौद्धों का नगर बन चुका था। युआन च्वांग ने और भी कितने ही नगर गिनाए हैं। दक्षिण भारत के सुप्रसिद्ध नगरों में एक कांची था।

युआन च्वांग ने कन्नौज नगर का विस्तार के साथ वर्णन किया है। उसने लिखा है कि का-नो-कु-शे, अर्थात् कान्यकुब्ज, का घेरा 4,000 ली (चीनी-मील लगभग 633 गज था। उसकी रक्षा की व्यवस्था बहुत ही अच्छी थी और उसकी इमारतें बहुत

ही ऊंची थीं। उसके अंदर बड़े खूबसूरत बाग बगीचे और स्वच्छ पानी के तालाब थे, और न जाने कितनी नयी नयी चीजें वहां अनजान जगहों से ला ला कर रखी गई थीं। नागरिकों की आर्थिक स्थिति अच्छी थी और कुछ परिवार तो बड़े ही धनी थे। फलों और फूलों का प्राचुर्य था और फसलों की बुवाई और कटाई मौसम के हिसाब से होती थी। लोगों के पहनावे से उनकी परिष्कृत रुचि का पता लगता था और वे भड़कीले रेशमी कपड़े पहनते थे। उनमें विद्याध्ययन की प्रवृत्ति थी, वे कलाओं के पारखी थे और उनकी बातचीत सुलझी हुई थी। उनके बीच पुराने विचारों के दकियानूसी लोगों की जितनी संख्या थी उतनी ही नए नए विचारों का स्वागत करने वालों की। वहां एक सौ से भी अधिक बौद्ध विहार थे जिनमें रहनेवाले भिक्षुओं की संख्या दस हजार से भी अधिक थी और वे दोनों ही 'यानों' (हीनयान और महायान) का अध्ययन करते थे। हिंदू देवी-देवताओं के भी दो सौ से अधिक मंदिर थे और अबौद्धों की भी संख्या कई हजार थी। युआन च्वांग ने अपने भ्रमण के सिलसिले में जिन अन्य भारतीय नगरों को देखा, उनका भी उसने वर्णन किया है। कितने ही नगरों में बड़ी बड़ी इमारतें थीं जिनके अंदर बड़े बड़े कमरे और दालान थे, छतें थीं, अटारियां थीं। इनकी दीवारें सफेदी की हुई थीं और छतें खपरैलों से छाई हुई थीं। ये अट्टालिकाएं बहुत ऊंची ऊंची थीं। साधारण लोगों के मकान ईंटों को चुन कर या लकड़ी के तख्ते जोड़कर बनाए गए थे और उनके फर्श गोबर से लीपे हुए थे। (भारत के कुछ भागों में आज भी गांवों के घरों का खुरदुरा फर्श गोबर से लीप कर चिकना किया जाता है।) कुल मिला कर साधारण गृहस्थों के मामूली घर भी आरामदेह थे, और जैसा कि युआन च्वांग ने लिखा है, ''बाहर से देखने पर तो सस्ते, पर अंदर से काफी शानदार''। ''हर्षचरितम्'' में भी एक स्थान पर बताया गया है कि राज्यश्री के विवाह के समय राजप्रासाद के अंदर की दीवारों पर तरह तरह के धार्मिक चित्र चित्रित किए जा रहे थे और कारीगर लोग अपने हाथ में कूचियां लिए और अपने कंधों से चूने की हंडी लटकाए सीढ़ी पर चढ़ कर दीवालों के ऊपरी भागों पर सफेदी कर रहे थे। (उत्कूर्चकरैश्च सुधाकर्करस्कन्धै: आधिरोहिणीसमारूढै: धवै: धवलीक्रियमाणप्रासादप्रतोलीप्राकारशिखरम्।)

कन्नौज के नागरिकों के बारे में युआन च्वांग लिखता है—''उनकी भाषा विशेष रूप से स्पष्ट और शुद्ध होती है, उनकी शब्दावली देवताओं की वाणी की भांति सुसंगत और परिष्कृत, और उनका स्वर विन्यास विशद् और सुनिर्दिष्ट होता है जो दूसरों के लिए एक विधान और आदर्श जैसा बन जाता है''।

यह तो हम देख ही चुके हैं कि उत्तर भारत का शासन हर्ष ने कितनी योग्यता के साथ किया। युआन च्वांग जब उनकी राजसभा में पहुंचा था तब सारे साम्राज्य

में शांति विराज रही थी। एक इतने बड़े राज्य में तभी शांति स्थापित रह सकती है जबकि प्रशासन तंत्र अत्यंत कुशलतापूर्वक चलाया जा रहा हो। किसी प्रशासन तंत्र के सुचारु संचालन का प्रमाण यह नहीं है कि नगरों में रहने वालों की जिंदगी कितनी शान शौकत की है। उसका प्रमाण तो इस बात मे मिलता है कि दूर दूर के जिलों और छोटे छोटे नगरों और ग्रामों की हालत कैसी है। अच्छे प्रशासन का रहस्य हर्ष को मालूम था और वह है : शासकों का शासितों के साथ निरंतर संपर्क बना रहे, उस तरह का संपर्क नहीं जैसा कि किसी मुख्यमंत्री और प्रमुख सहकारियों द्वारा भेजी जाने वाली रिपोर्टों को पढ़ कर कायम किया जाता है। यह संपर्क व्यक्तिगत स्तर पर होना चाहिए। गांवों के साथ जब राजा का सीधा संपर्क होता था तो प्रजा को यह महसूस होता था कि सुख दुख में उनको पूछने वाला भी कोई है। राजा हर्ष के ग्रामों की प्रशासन व्यवस्था के संबंध में न तो बाण ने ही विशेष रूप से प्रकाश डाला है और न युआन च्वांग ने ही, किंतु ''हर्षचरितम्'' में हमें उसकी कुछ झलकियां मिलती हैं।

हमारी आज की राजस्व प्रणाली में, जो हमें अंग्रेजों से उत्तराधिकार में मिली है, ग्राम जीवन का विस्तृत लेखा जोखा रखा जाता है। गांवों के कितने ही ऐसे प्रपत्र होते हैं जिनकी पटवारी को हर महीने खानापूरी करनी होती है। इन प्रपत्रों की निश्चित अवधि के अंतर पर कलैक्टर जैसे ऊपर के अधिकारियों द्वारा परीक्षा की जाती है, और इनमें गांव की सारी जरूरी बातों का विस्तृत वर्णन रहता है। हर्ष के प्रशासन में भी इस तरह का ब्यौरा रखने की व्यवस्था थी, और अभिलेखों और पुरालेखों का एक अलग विभाग ही था। बाण ने लिखा है कि एक बार जब राजा एक गांव में से होकर गुजर रहे थे तब पटवारी (अक्षपटलिक) और अन्य ग्राम कर्मचारियों (करणी) ने उनके सामने मस्तक नवा कर उनसे प्रार्थना की, ''महाराजाधिराज हमारे लिये अपने नए आदेश जारी करने की कृपा करें''। अक्षपटलिक ने तब सोने की एक मोहर पेश की, ताकि राजकीय आदेश पर विधिवत्त मुहर लगा दी जाय।

यह तो पहले ही दिखाया जा चुका है कि राज्य के उच्च स्तर पर, अपरिष्कृत रूप में ही सही, लोकतंत्रीय व्यवस्था चालू थी। मंत्रियों और परामर्शदाताओं की सभा ने ही हर्ष को राजा बनाने का निर्णय किया था और उन्होंने ही राजगद्दी पर बैठने का उनसे अनुरोध किया। किंतु नीचे के स्तरों पर भी प्रशासक (विषयपति:) को सलाह देने के लिये एक समिति होती थी। विषयपति जिस क्षेत्र में अपना कार्य कर रहा होता था उसके हिसाब से इस समिति के सदस्य निम्नलिखित रूप में होते

थे— उस नगर का महापौर अथवा नगर श्रेष्ठ, व्यापारियों का एक प्रतिनिधि (सार्थवाह:), कला और शिल्प का एक प्रतिनिधि (प्रथमकुलिक), और लेखकों और ग्रंथकारों का एक प्रतिनिधि (प्रथम कायस्थ)।

मधुबन के ताम्रपत्र में इस बात का उल्लेख है कि इन गैर सरकारी प्रतिनिधियों के समक्ष हर्ष ने ब्राह्मणों को दान दिए।

किसी न किसी रूप में जनगणना भी की जाती थी। इसका तो कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता कि हर्ष ने जनगणना कराने का कोई आदेश जारी किया, पर उसके समकालीन और प्रतिद्वंदी उस महान महाराष्ट्रीय राजा पुलकेशी द्वितीय के बारे में यह उल्लेख अवश्य आया है कि उसने अपने साम्राज्य को 99 हजार गांवों वाले तीन बड़े बड़े खंडों में विभाजित कर रखा था।

राजमोहरों का जिक्र पहले ही किया जा चुका है। इनमें से कुछ प्राप्त हुई हैं, हालांकि टुकड़ों के रूप में। उन पर अंकित अभिलेख खंडित हो गए हैं, पर जो पढ़े जाने योग्य हैं उनसे यह तात्पर्य निकाला जा सकता है कि हर्ष का उल्लेख उनमें ''सर्वोच्च राजा, प्राय: ईश्वर-तुल्य, परम भट्टारक, महाराजाधिराज श्री हर्ष'' कह कर किया गया है। प्रत्येक अक्षर को तो स्पष्ट रूप से पढ़ना कठिन है किंतु जो अक्षर नहीं पढ़े जा सकते उन्हें अंदाज से पूरा करने पर ये शब्द दिखाई पड़ते हैं—''(परम) माहेश्वर एवं सार्व (भौम:)। (परम) भट्टारक: महाराजाधिराज श्री हर्ष:''।

इनमें से कोष्ठकबद्ध अक्षर पढ़े नहीं जाते।

हर्ष के काल में धातु के बने हुए सिक्के प्रचलित थे, यह अच्छी तरह प्रमाणित हो चुका है। हर्ष पूर्व काल और हर्ष काल के कुछ सिक्के मिल ही चुके है। ''प्रतापशाल'' के नाम के कुछ सिक्के, संख्या में कुल नौ, जो सब के सब चांदी के हैं, प्राप्त हुए हैं। ''शलदत्त'' के नाम के भी कुछ सिक्के मिले हैं जिसका आशय संभवत: हर्ष के ही एक दूसरे नाम ''शिलादित्य'' से है। एक सिक्के पर यह लिखा है ''पृथ्वी के विजेता और स्वामी श्री शिलादित्य देवलोक पर भी विजय प्राप्त करते हैं। (विजयतां अवनिपति: श्री शिलादित्यो दिवं जयति।)

पुरुषों और स्त्रियों की पोशाक का भी विवरण मिलता है। युआन च्वांग ने पुरुषों की पोशाक का यह विवरण दिया है—पुरुष अपनी कमर से लेकर कंधों के नीचे छाती तक कपड़े का एक टुकड़ा लपेटे रहते हैं। स्त्रियां एक लंबा ढीला ढाला लबादा अपने दोनों कंधों पर डाले रहती हैं जो नीचे तक लटकता रहता है। स्त्रियां परदा नहीं करती थीं, राज्यश्री का जो वर्णन बाण ने किया है उसके अनुसार वे न विवाह से पहले परदा करती थीं, न बाद को, और न विधवा हो जाने के बाद ही। समाज

के ऊंचे स्तरों की स्त्रियां थोड़ी बहुत शिक्षित भी होती थीं। राज्यश्री ने किसी पाठशाला में भले ही शिक्षा न पाई हो, पर बाण ने इस बात का उल्लेख किया है कि बौद्ध साधु दिवाकर मित्र से वह धर्मोपदेश लेती थी। विधवा हो जाने पर राज्यश्री ने संन्यासी वेष धारण करने का निश्चय कर लिया था, पर हर्ष ने और बौद्ध साधु ने भी, उसे उपदेश देकर सांत्वना दी। उनके उपदेशों को समझने और उनकी कद्र करने योग्य शिक्षा दीक्षा अवश्य राज्यश्री को प्राप्त हुई थी। इसके अतिरिक्त, इससे पहले के परिच्छेद में बाण ने इस बात का उल्लेख किया है कि राज्यश्री को नृत्य और संगीत की शिक्षा दी जाती थी। तत्कालीन साहित्य में प्रचुर सामग्री भरी पड़ी है जिससे यह स्पष्ट है कि स्त्रियों को विभिन्न कलाओं की शिक्षा दी जाती थी। बाण के अन्य प्रसिद्ध ग्रंथ ''कादम्बरी'' से, और स्वयं राजा हर्ष द्वारा लिखे गए नाटकों से भी, इस बात की पुष्टि होती है।

साधारण शिक्षा की व्यवस्था के बारे में प्रमाणों की कोई कमी ही नहीं किसी देश के शिक्षित होने का एक प्रमाण यह हो सकता है कि उसने कितने ऐसे विद्वानों और साहित्यिकों को जन्म दिया जिन्होंने न केवल अपने काल के समाज को बल्कि आने वाली पीढ़ियों तक को प्रभावित किया। इस कसौटी पर जांचा जाय तो भी भारत की गणना उन बिरले देशों में की जायगी जिन्होंने कालिदास जैसे महाकवि पैदा किए। कई सदियों तक भारत ऐसे अगणित कवियों और साहित्यिकों को पैदा करता रहा जिनका सितारा आज तक भारत में ही नहीं दूर दूर तक चमक रहा है। जर्मन मनीषी एवं कवि गेटे तो ''शाकुन्तलम्'' को पढ़ने पर भावविभोर हो उठा था और संसार में उसे जो भी सुंदर दिखाई दिया उसकी प्रशंसा में यह कहना शुरु कर दिया, ''मैं तुझे शकुन्तला कहूंगा''। पर यही एक मात्र कसौटी नहीं है जिसके आधार पर भारत अपनी संस्कृति पर गर्व कर सके। भारत में, जैसा कि हर्ष के काल से भी स्पष्ट है, विद्यापीठ स्थापित थे जिनमें विद्यार्थियों को बिभिन्न विषयों की शिक्षा दी जाती थी। इस देश में अत्यंत प्राचीन काल से ही वेदों और वेदांतों की, उपनिषदों और ब्राह्मणों की, सूत्रों और भगवद्गीता की शिक्षा प्राय: अनिवार्य जैसी ही थी। किंतु इस प्रकार की शिक्षा तब ब्राह्मणों या द्विजों तक ही सीमित थी। बौद्ध धर्म के आविर्भाव से उसका आधार कहीं अधिक व्यापक हो गया और समाज के निम्न स्तरों तक भी वह पहुंचने लगी।

इस प्रसंग में नालन्दा (बिहार) के विद्यापीठ का उल्लेख करना असंगत नहीं होगा। युआन च्वांग ने इस विश्वविद्यालय की व्यवस्था का इतना विस्तृत विवरण दिया है कि उसके कुछ उद्धरण यहां देने का हमें लोभ हो रहा है। उसने लिखा है, ''यहां के विद्यार्थियों की संख्या कई हजार है। इनकी योग्यता और प्रतिभा

उच्चतम कोटि की है। ये बहुत ही प्रतिष्ठित हैं, और इनमें से सैकड़ों का नाम दूर दूर तक फैल गया है। इनका चरित्र निर्मल और निष्कलंक है। सदाचार के नियमों का ये सच्चाई के साथ पालन करते हैं। इनके आश्रम जीवन के विधि निषेध बड़े ही कठोर हैं और सभी भिक्षुओं को उनका पालन करना पड़ता है। शास्त्रार्थ करते ये थकते नही हैं और समूचा दिन भी इसके लिये पर्याप्त नहीं होता। सवेरे से लेकर रात तक सब उसी में लगे रहते हैं और वृद्ध तथा युवक एक दूसरे की सहायता करते रहते हैं। शास्त्रार्थ में अपना नाम पैदा करने के इच्छुक विद्वान लोग विभिन्न नगरों से सैकड़ों की संख्या में यहां आते रहते हैं और अपनी शंकाओं का समाधान हो जाने के बाद अपने नव ज्ञान की धारा दूर दूर तक ले जाते हैं। यही कारण हैं कि कुछ लोग इसके (नालन्दा विद्यापीठ के) नाम पर धोखा देकर इधर उधर अपनी कीर्ति-पताका फहराने की चेष्टा करते दिखाई देते हैं। इस विद्यापीठ में प्रवेश पाने के लिये यह आवश्यक है कि विद्यार्थी ने प्राचीन और नवीन ग्रंथों का गहरा अध्ययन किया हो। इसलिये जो विद्यार्थी यहां नए नए आते हैं उन्हें शास्त्रार्थ द्वारा कठोर परीक्षा में उत्तीर्ण होकर अपनी योग्यता का प्रमाण देना पड़ता है। इस तरह की परीक्षा में यदि दस उत्तीर्ण होते हैं तो सात आठ अनुत्तीर्ण भी होते हैं। अपनी अद्भुत प्रतिभा, ठोस विद्वत्ता, महान योग्यता और विख्यात सद्गुणों के कारण इस विद्यापीठ से निकलने वाले जिन लोगों ने यश प्राप्त किया है उनमें धम्मपाल या चन्द्रपाल हैं, इन्हीं में गुणमति और स्थिरमति हैं जिनकी लोकप्रिय शिक्षाओं की धारा आज तक देश विदेशों में बह रही है, इन्हीं में प्रभाकरमित्र का नाम आता है जिनकी उपदेश वाणी अत्यंत सुलझी हुई है, इन्हीं में जिनमित्र हैं जिनका वाग्विलास अपूर्व है, इन्हीं में शीलभद्र जैसे अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों के नाम आते हैं जिन्हें अब लोग भूल चले हैं''।

इस विश्वविद्यालय के संबंध में हमें युआन च्वांग से ही जानकारी नहीं मिलती, बल्कि उसकी जीवनी से भी। इस विद्यापीठ की स्थापना शुक्रादित्य ने की थी। एक के बाद एक ही राजाओं के राज्य काल में इसमें भवन निर्माण का काम चलता चला गया, और स्थापत्य कला का ऐसा कुछ भी शेष नहीं रहा जिसका प्रयोग इसके निर्माण में न हुआ हो। जब यह भवन तैयार हुआ तब इसकी शोभा अद्भुत थी। इस विश्वविद्यालय से बहुत बड़ी आय होती थी। हर्ष के काल में इसकी आय दो सौ गांव के राजस्व के बराबर थी।

इस विश्वविद्यालय में पढ़ने के लिये उत्सुक विद्यार्थी भारत के ही अन्य भागों से नहीं, दूसरे देशों से भी बहुत बड़ी संख्या में आते रहते थे। सच पूछा जाय तो हर्ष के काल में भारत सारे विश्व में शिक्षा का एक महत्वपूर्ण केंद्र बन गया था।

शीलभद्र जब वहां के आचार्य थे तब तो युआन च्वांग भी विद्यार्थी के रूप में वहां भर्ती होना चाहता था। वह लिखता है कि बच्चों की शिक्षा प्रारंभ करते समय और उन्हें आकृष्ट करने के लिये उन्हें बारह परिच्छेदों वाली पुस्तक "सिद्धवस्तु" पढ़ाई जाती है। जब बच्चे सात वर्ष के हो जाते हैं तब उन्हें धीरे धीरे पांचों विद्याएं सिखाई जाने लगती हैं। ये पांच विद्याएं हैं—एक, व्याकरण, जो शब्दों और उनके अर्थों का ज्ञान कराता है और उनके भेदों का वर्गीकरण करता है, दूसरी, कोई दस्तकारी या दूसरे प्रकार की कारीगरी, हेतु विज्ञान और ज्योतिष; तीसरी, आयुर्वेद; चौथी, तर्क शास्त्र और पांचवीं आध्यात्म शास्त्र या आत्मविद्या।

राजनैतिक संबंध स्थापित करने के बारे में हर्ष की नीति क्या थी, इस पर तो बहुत प्रकाश पड़ चुका है। जिन राजाओं पर विजय प्राप्त होती थी या जो स्वत: आत्मसमर्पण कर देते थे वे स्वभावत: उनके वशवर्ती बन कर रहते थे, चाहे डर से और चाहे उन्हें दिल से बड़ा मानने के कारण। उन सब के ऊपर उनका नियंत्रण रहता था, हालांकि साथ ही साथ उन्हें किसी सीमा तक प्रादेशिक रूप में स्वायत्त शासन के अधिकार भी मिले रहते थे। हर्ष ने भारत के बाहर भी राजनैतिक संबंध स्थापित कर रखे थे। इस बात का उल्लेख पहले ही हो चुका है कि उन्होंने एक ब्राह्मण को अपना राजदूत बना कर चीन भेजा था। हो सकता है कि पुलकेशी द्वितीय ने भी चूंकि अपना एक राजदूत विदेश भेज रखा था इसलिये, उसके जवाब में ही, हर्ष ने ऐसा किया हो। पुलकेशी द्वितीय ठीक उसी प्रकार "संपूर्ण दक्षिण का स्वामी" था, जिस प्रकार हर्ष उत्तर भारत के स्वामी थे। पुलकेशी द्वितीय ने ईरान के साथ कूटनीतिक संबंध स्थापित किया था। इन दोनों ही राजाओं के इन राजदूतों को समुद्र मार्ग से यात्रा करनी पड़ी होगी। समुद्र यात्राएं उस काल में होती थीं। समुद्र के रास्ते लंका आना जाना होता था, यह तो हम भली भांति जानते ही हैं। हर्ष की अपनी ही लिखी नाटिका, रत्नावली,में लंका से कौशाम्बी के लिये जाते हुए उसकी नायिका जहाज डूब जाने के फलस्वरूप संकट में पड़ जाती है। बल्कि दो शताब्दी पहले ही एक दूसरा चीनी यात्री फाहियान समुद्र मार्ग से लंका गया था, वहां से जावा और वहां से भी क्वांग-चाउ। वह जिस जहाज में गया था उसमें 2(X) यात्रियों के लिये स्थान था। युआन च्वांग भी जब पंद्रह वर्ष तक भारत में रहने के बाद अपने देश को वापस जाने लगा था तब हर्ष ने इस शर्त पर उसके साथ अपना एक दूत भेजने का प्रस्ताव रखा था कि वह समुद्र मार्ग से यात्रा करे। इससे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि हर्ष की नौशक्ति काफी बड़ी और समुद्र मार्ग की कठिनाइयों का बहुत ही आसानी से मुकाबला करने लायक थी। इससे भी पहले के गुप्तकाल में भारत ने पूर्वी द्वीप समूह के साथ समुद्र के रास्ते व्यापार संबंध स्थापित कर रखा

था। इस बात का तो लिखित प्रमाण मौजूद है कि विभिन्न पेशों के कम से कम पांच हजार भारतीय यहां से जाकर जावा में बस गए थे।

हर्ष की मृत्यु के कुछ वर्ष बाद एक और चीनी यात्री इत्सिंग भारत आया था। वह चीन से भारत तक समुद्र मार्ग से ही आया था। रास्ते में जहाज बदलता हुआ वह अंत में ''नंगे लोगों के देश'' में (संभवत: अंडमान द्वीप समूह का ही कोई द्वीप) आ पहुंचा, जहां से फिर जहाज में चढ़कर वह पद्रंह दिन बाद ताम्रलिप्ति के बंदरगाह पर उतरा। लौटते समय की अपनी यात्रा को भी उसने लिपिबद्ध किया है, ''ताम्रलिप्ति से जहाज लेकर दो महीने की दक्षिण-पूर्व की यात्रा करते हुए हम का-चा पहुंचे''।

इन जहाजों का इस्तेमाल व्यापार के लिये और सुंदर देशों में बसने की इच्छा रखने वाले भारतीय परिवारों को वहां ले जाने के लिये ही नहीं होता था, बल्कि विचारों का आदान प्रदान करने के उद्देश्य से विदेश जाने वालों को ले जाने के लिये भी। दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में भारतीय कला के अवशेष अभी तक मौजूद हैं। इनमें से अधिकांश कला कृतियों का निर्माण सातवीं सदी और उसके आसपास, हर्ष के ही काल में हुआ था। तब फिर आश्चर्य ही क्या कि हर्ष के काल की गणना भारतीय इतिहास के सर्वाधिक गौरवशाली कालों में की जाती है।

5

हर्ष की धार्मिक आस्था

हर्ष जब अपने गौरव के शिखर पर थे तब तक वे बौद्ध धर्म ग्रहण कर चुके थे। उनके धार्मिक मत का निर्णय करने के मार्ग में दो कठिनाइयां हैं, एक तो यह ठीक करने में कि अपने जीवन की किस अवस्था में उन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार किया, और दूसरे यह निर्धारित करने में कि उनकी धार्मिक आस्था कितनी गहरी थी। इन प्रश्नों के उत्तर के लिये हमें युआन च्वांग से मदद लेनी होगी। पर हमें यह नहीं भूलना है कि युआन च्वांग स्वयं एक कट्टर बौद्ध था जो बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिये ही भारत आया था। स्वभावत: उसका पक्षपात उसी धर्म के प्रति था। उसने सब कुछ बौद्ध दृष्टिकोण से ही देखा। उदाहरणस्वरूप, हिंदू संस्कृति के उस समय के केंद्र (आज भी वही बात है) वाराणसी को उसने ''नास्तिकों का नगर'' बताया है। उसकी यह धारणा इसीलिये बनी कि वह विद्या का एक ऐसा केंद्र था जो हिंदू धर्म का प्राण था।

पर इसका मतलब यह नहीं कि युआन च्वांग की बातों पर हम बिल्कुल ही भरोसा न करें। हमें याद इतना ही रखना होगा कि उसके बताए गए तथ्यों के आधार पर जब हम किसी निर्णय पर पहुंचना चाहें तो बौद्ध धर्म के पक्ष में उसकी जो बात अत्युक्तिपूर्ण जान पड़े उसे छांट दें। एक बात और भी याद रखने की है। युआन च्वांग 630 ईसवी में भारत आया था। पर हर्ष की राजसभा में वह लगभग बारह वर्ष बाद पहुंचा। उस समय तक हर्ष ने अवश्य ही बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया होगा। फिर भी, यह तो कहना ही पड़ेगा कि बौद्ध धर्म में हर्ष की आस्था उतनी गहरी नहीं थी जितनी, उदाहरण के लिये, अशोक की थी। अशोक को युद्धों से घृणा हो गई थी और युद्धों से लोगों की क्या दुर्दशा होती है यह अपनी आंखों से देख लेने के बाद वे पूर्णतया शांतिपूर्ण जीवन बिताने का निश्चय कर चुके थे। किंतु हर्ष ने, इससे विपरीत, न केवल लड़ाइयां ही लड़ाइयां की थीं, बल्कि अपने राज्यकाल का अधिकांश भाग उन्हीं में बिताया था। उदाहरणस्वरूप, कांगोड़ा प्रदेश (गंजाम जिला) पर उनका आक्रमण उनकी मृत्यु से कुछ ही पूर्व 643 ईसवी में

हुआ था। युआन च्वांग ने, संभवत: शांति में हर्ष की आस्था प्रमाणित करने के लिये ही, यह दिखाया है कि उन्होंने अपने राज्यकाल के प्रथम पांच-छ: वर्षों में ही युद्ध किए और 'विश्व' विजय कर लेने पर तीस वर्ष तक शांतिपूर्वक राज्य करते रहे। दूसरे शब्दों में 612 से लेकर 642 ईसवी तक (अर्थात् हर्ष की राजसभा में युआन च्वांग के आगमन से तीस वर्ष पूर्व तक) हर्ष शांति पथ पर चलते रहे और बौद्ध आदर्श का पालन करते हुए युद्धों से विरक्त रहे। किंतु असलियत से यह बिल्कुल ही उल्टी तस्वीर है। पुलकेशी द्वितीय के अथवा वलभीराज के साथ उनके युद्ध 612 ईसवी के काफी बाद हुए, संभवत: 635 ईसवी में या उसी के आसपास। फिर, गौड़राज शशांक ने मौखरि राज्य की जो गद्दी बलपूर्वक हड़प ली थी उसे छोड़ भाग खड़े होने के लिये हर्ष ने ही उसे विवश किया था। पर शशांक को पूरी तरह परास्त तो नहीं ही किया जा सका था, क्योंकि यह इतिहास सिद्ध है कि 619 ईसवी तक भी एक शक्तिशाली राजा के रूप में उसका अस्तित्व कायम था। हर्ष द्वारा उसकी संपूर्ण पराजय सातवीं सदी के तीसरे दशक में किसी समय हुई होगी। युआन च्वांग का कथन कि हर्ष "तीस वर्ष तक बिना कोई अस्त्र उठाए शांतिपूर्वक राज्य करते रहे" या तो उनके प्रति उसका अनुचित पक्षपात प्रकट करता है और या चीनी भाषा में लिखे गए मूल का गलत अनुवाद है। जैसा कि बील ने उसका अर्थ किया है, उसका तात्पर्य यह भी हो सकता है कि "तीस वर्ष बाद उनके अस्त्रों ने विश्राम ग्रहण किया और उसके बाद वे शांतिपूर्वक राज्य करते रहे"।

इस प्रसंग में हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हर्ष का जन्म किसी बौद्ध परिवार में नहीं हुआ था। उनके पूर्वज "सूर्य के उपासक" थे। हर्ष के पिता प्रभाकरवर्धन के संबंध में बाण ने लिखा है कि "चंदन से लीपे गए गोलाकार एक भूमिखंड पर बैठे वे पूरब की ओर सिर झुकाए थे" और वे "प्रकृति से सूर्यदेव के उपासक थे" (निसर्गत एव नृपतिरादित्यभक्तो बभूव ...प्रतिदिनमुदये...प्राङ्मुख...स्वहृदयेनेव सूर्यानुरक्तेन रक्तकमलषण्डेन अर्चा ददौ)। प्रभाकरवर्धन के सूर्य उपासक होने की बात की मधुबन और बांसखेड़ा के ताम्रपत्रों के अभिलेखों से भी पुष्टि होती है। वहां उन्हें सूर्य का परम भक्त बताया गया है (परमादित्यभक्त)। और यही बात उनके पिता (जिनका तो नाम ही आदित्यवर्धन था) और पितामह पर भी लागू होती थी।

सूर्य-उपासक होने के साथ साथ हर्ष का परिवार भगवान शिव का भी भक्त था। बाण के "हर्षचरितम्" में कितने ही प्रमाण मिलते हैं। सोनीपत्र की ताम्रमुद्रा में हम भगवान शिव के वाहन नन्दी को बैठी हुई मुद्रा में देखते हैं। इसी तरह के और भी कितने ही प्रमाणों से यह बिलकुल स्पष्ट है कि जन्म से ही नहीं, अपने

बचपन में भी हर्ष पर हिंदू धर्म का, या दूसरे शब्दों में, बौद्ध के विरोधी ब्राह्मण धर्म का ही प्रभाव था। उन्होंने बौद्ध धर्म कब ग्रहण किया, इसका अवश्य कोई स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। ''ब्राह्मण धर्म'' छोड़ कर औपचारिक रूप में शायद उन्होंने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली ही न हो, पर उनके परवर्ती कार्यों से पता चलता है कि वे बुद्ध के उपासक थे, और इस सीमा तक तो युआन च्वांग की बात ठीक ही है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि बुद्ध भगवान ने ईसा मसीह के जन्म से कम से कम पांच सदी पहले ही अपने धर्म की प्रतिष्ठा की थी। इस धर्म का जन्म भले ही भारत में हुआ हो, पर उसका प्रसार भारत की सीमा पार करके बहुत दूर दूर, चीन, पूर्वी द्वीप समूह, लंका और दूसरे दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों तक हुआ था। अशोक के राज्यकाल में संपूर्ण भारत में उसके प्रचार का बहुत बड़ा अवसर मिला। किंतु यह नहीं भूलना चाहिए कि इन सारी शताब्दियों के बीच हिंदू या ब्राह्मण धर्म का प्रभाव भारतीय मस्तिष्क पर छाया ही रहा। हर्ष के बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेने का कोई भी असर वेदों, उपनिषदों और भगवद्गीता में निर्देशित हिंदू विचारधारा पर नहीं पड़ने पाया। साधारणत: यह देखा जाता है कि जो लोग जन्म से किसी धर्म को मानते आते हैं उसकी अपेक्षा वे कहीं ज्यादा कट्टर होते हैं जो अपना धर्म छोड़ नया धर्म ग्रहण करते हैं। किंतु हर्ष बिलकुल ही कट्टर नहीं थे। बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेने के बाद भी सार्वजनिक पूजापाठ के अवसरों पर वे शिव या आदित्य जैसे हिंदू देवताओं की पूजा करते रहे। बौद्ध भिक्षुओं के साथ साथ वे ब्राह्मण पुरोहितों का भी सम्मान करते रहे। युआन च्वांग ने लिखा है कि अपने राज्य के विभिन्न स्थानों का दौरा करते समय राजकीय पड़ावों पर एक हजार भिक्षुओं के साथ साथ पांच सौ ब्राह्मणों को भी भोजन देने की व्यवस्था हर्ष ने चालू की थी।

फिर भी इसमें संदेह नहीं कि बौद्ध धर्म की ओर हर्ष का झुकाव उनके जीवन के प्रारंभिक भाग में ही शुरू हो गया होगा। अपने पिता की मृत्यु के तुरंत बाद ही उनके बड़े भाई और बहनोई की हत्याओं के फलस्वरूप उनका चित्त बहुत ही उदास हो गया होगा। अपना धर्म समझकर ही पहले अपने भाई व बहनोई की हत्या का बदला लेने के लिये फिर अपनी लापता बहन का उद्धार करने के लिये युद्ध के लिये कटिबद्ध हो पाए होंगे। उनके चित्त की उस समय की स्थिति का सहज ही अनुमान किया जा सकता है जबकि उन्हें यह समाचार मिला कि उनकी बहन ने बंदीगृह से छूट कर विन्ध्याचल के जंगलों की शरण ली है। लड़ाई की जिम्मेदारी अपने सेनापति भंडि पर सौंप, वे तुरंत ही अपनी बहन को खोजने के लिये निकल पड़े। जंगलों के बीच जगह जगह भटकते हुए ही उन्हें हिंदू धर्म छोड़ बौद्ध धर्म

ग्रहण करने वाले एक साधु दिवाकरमित्र की खबर मिली। और जब वे दिवाकरमित्र के आश्रम में थे तभी उन्हें यह समाचार भी मिला कि उनकी बहन आग में जल कर भस्म होने जा रही है। अंत में जब हर्ष ने अपनी बहन को जाकर बचाया तब वे बिल्कुल ही भावविह्वल हो उठे होंगे। किंतु इन घटनाओं का उन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे दिवाकरमित्र के भक्त हो गए। दिवाकरमित्र ने भी हर्ष को मन्दाकिनी नाम का एक हार भेंट किया। राज्यश्री ने जब संन्यासिनी के गेरूआ वस्त्र धारण करने की इच्छा प्रगट की तब हर्ष ने गुरू के रूप में उसे दिवाकरमित्र का ही नाम सुझाया। इन सब बातों के कारण हर्ष बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट हुए होंगे, और समय के साथ साथ यह आकर्षण बढ़ता ही चला गया होगा।

भगवान बुद्ध ने जब अपने धर्म की प्रतिष्ठा की थी तब उन्होंने यह कल्पना तक नहीं की होगी कि उनके उपदेशों का उनके ही विभिन्न शिष्य विभिन्न अर्थ लगाएंगे, यदि उनके जीवन काल में नहीं, तो उसके बाद के ही कुछ वर्षों के अंदर। वस्तुत: सभी महापुरुषों द्वारा प्रवर्तित नए मतों के साथ ऐसा होता है। सभी दार्शनिक तत्वों की मौलिक विचारधारा की शाखा प्रशाखाएं फूटने लगती हैं, और उन शाखा प्रशाखाओं की भी उपशाखा प्रशाखाएं। कुछ सदियां बीतते बीतते बौद्ध धर्म भी अठारह मतमतांतरों में विभाजित हो गया। इनमें से चार तो सचमुच ही उसकी प्रमुख शाखाएं मानी जा सकती हैं। ये थीं—सौत्रान्त्रिक, वैभाषिक, योगाचार, और माध्यमिक। इनमें से पहले दो को ही मिलाकर 'हीनयान' कहा जाता है, अंतिम दो को मिलाकर 'महायान'। हीनयान मत के अनुसार 'निर्वाण' की प्राप्ति शुभ संतों के 'दर्शन' और उनकी 'भावना' से होती है। महायान मत में बुद्ध की उपासना का बहुत बड़ा महत्व है। वासना, अज्ञान और जीवत्व से मुक्ति पाने के लिये धर्म के सभी नियमों का पालन और बुद्धों के संबंध में संपूर्ण ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। इन्होंने बोधिसत्वों अर्थात् उन विभूतियों में आस्था उत्पन्न की 'जो बुद्धत्व तो नहीं प्राप्त कर पाए थे किंतु उसकी प्राप्ति की ओर अग्रसर हो रहे थे। इस प्रकार बौद्ध को देवता का रूप दे दिया गया और उनकी प्रतिमाओं की पूजा शुरू हो गई। हीनयान मत के अनुसार जीवत्व से मुक्ति प्राप्त करना ही मनुष्य का मुख्य लक्ष्य है। महायान मत का लक्ष्य सभी जीवों की मुक्ति है। हीनयान में आत्म-संयम और सदाचार ही मुक्ति का एक मात्र साधन है, जबकि महायान में बुद्ध और बोधिसत्वों की उपासना ही प्रधान है। हीनयान ने अपने दर्शन का प्रचार करने के लिये पाली भाषा का सहारा लिया, और महायान ने संस्कृत का। वस्तुत: महायान हिंदू दर्शन के अधिक निकट था। महायान मतावलम्बियों में भी जो शून्यवादी हैं वे संपूर्ण जगत को भ्रम बतलाते (सर्वशून्यम्)। यह विचारधारा शंकराचार्य द्वारा बाद को प्रतिपादित

दर्शन से मिलती जुलती है जिसके अनुसार, "सभी कुछ ब्रह्म है और बाकी जो कुछ हम देखते हैं वह अयथार्थ है"।

इस संबंध में हर्ष की अपनी स्थिति क्या थी इसी को स्पष्ट करने की दृष्टि से इतने विस्तार से यह लिखने की आवश्यकता पड़ी। युआन च्वांग ने हर्ष के बारे में जितना कुछ लिखा है उसके फलस्वरूप उनकी जो तस्वीर हमारे सामने खिंचती है वह बहुत अधिक स्पष्ट भले ही न हो, पर भारतीय इतिहास के और किसी भी काल की तस्वीर के मुकाबले कहीं ज्यादा साफ है। बौद्ध धर्म के हीनयान संप्रदाय का प्रभाव मुख्यत: दक्षिण भारत और लंका में ही रहा, जबकि महायान संप्रदाय उत्तरी और मध्य भारत के अलावा जावा, सुमात्रा, बर्मा, थाईलैंड और कम्बोडिया जैसे बाहर के देशों में भी कहीं ज्यादा तेजी से फैला। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि प्रारंभ में हर्ष ने महायान संप्रदाय को अपनाया। युआन च्वांग ने भारत के जिन जिन भागों में भ्रमण किया उनमें बौद्ध धर्म का प्रभाव कैसा था, इस पर उसने प्रकाश डाला है।

युआन च्वांग ने जैसा कुछ देखा उसके अनुसार प्रतीत होता है कि उन दिनों भारत में तीन धर्म प्रचलित थे-बौद्ध धर्म, 'ब्राह्मण' या हिंदू धर्म, और जैन धर्म। यहां यह स्मरण रखना होगा कि युआन च्वांग की भारत यात्रा का मुख्य उद्देश्य ही यह था कि उसके अपने देश चीन पर पिछली कई शताब्दियों के अंदर धीरे धीरे छा जाने वाले बौद्ध धर्म का वह जन्म स्थान में जा कर अध्ययन करे जहां लगभग एक हजार वर्ष पूर्व भगवान बुद्ध ने उसे प्रवर्त्तित किया था। ऐसी स्थिति में उसका विवरण अगर किसी हद तक बौद्ध धर्म के प्रति पक्षपातपूर्ण हो उठा हो तो यह स्वाभाविक ही है। फिर भी उसने स्वयं स्वीकार किया है कि जिन अंचलों में जैन धर्म (उसके दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही संप्रदाय) या ब्राह्मण (हिंदू धर्म) अब भी पूरी तरह जमे हुए थे वहां लोगों पर बौद्ध धर्म का प्रभाव नहीं बढ़ सका था। बौद्ध धर्म के गढ़ मुख्यत: प्रयाग और वाराणसी ही थे। अवश्य उन दिनों के ब्राह्मण या हिंदू धर्म की प्रतिमा पूजन में आस्था थी और शिव तथा विष्णु के (आदित्य या अदिति के भी) मंदिर काफी थे। प्रतिमा पूजन के अतिरिक्त ब्राह्मण धर्मोपासक यज्ञ भी करते थे और बलि भी देते थे। इनमें से पहले दर्शन के अनुसार जिसे जैमिनि का दर्शन कहा जाता था, मनुष्य अपने द्वारा ही, अर्थात् अच्छे कर्मों द्वारा मुक्ति पा सकता है। जिनके दर्शन में कर्म ही प्रधान था जिसके अंतर्गत विविध प्रकार के धार्मिक विधि निषेधों और यज्ञ तथा होम आदि का विधान था। बाण ने 'हर्षचरितम्' में विभिन्न दर्शनों की जो गणना कराई है वह कुछ बेढंगी सी है। उसने जो नाम गिनाए हैं वे हैं, कपिल, कणाद, उपनिषद् ऐश्वर, क्रमिक (अर्थात्

यह मानने वाला दर्शन कि एकमात्र ईश्वर ने ही ब्रह्माण्ड की सृष्टि की है) और लौकायतिक, अर्थात् नास्तिक भी। किंतु जिन दर्शनों का उल्लेख ऊपर किया गया है वे वस्तुत: इस प्रकार हैं, कर्मवादी या जैमिनीय, ज्ञानवादी या वेदान्ती, सांख्य, योग, नैयायिक, और वैशेषिक। ये सभी माने हुए प्राचीन दर्शन थे जो सबके सब वेदों को ही प्रमाण मानते थे। किसी दर्शन विशेष की प्रामाणिकता की बड़ी कसौटी यह नहीं थी कि सृष्टा के रूप में ईश्वर के प्रति उसकी आस्था है या नहीं, किंतु वेदों की सर्वोच्चता को स्वीकार करना न करना अवश्य इसकी बड़ी कसौटी थी। शेष छ: अरूढ़िवादी दर्शनों में वेदों की सर्वोच्चता नहीं स्वीकार की जाती थी। ये थे, (1) भौतिकवादी, जिनका उल्लेख बाण ने 'लौकायतिक' कह कर किया है, (2) जैन और (3-6) बौद्ध धर्म की उपर्युक्त चार शाखाएं। भारतीय दर्शन इन्हीं प्रमुख भागों में बंटा हुआ था। बाण ने अपने 'हर्षचरितम्' में और भी कितने ही प्रकार के लोगों की चर्चा की है, पर उनके विचार किसी दर्शन के रूप में नहीं स्वीकार किए गए थे। बाण ने और भी जिनकी चर्चा की है वे हैं, बाल नोंचने वाले (केशलुंचक), शैव, वाष्णि, भागवत, पांचरात्रिक, आदि। किंतु इन्हें तत्कालीन दर्शनों के खंडों के भी उपखंड के रूप में ही माना जा सकता है।

युआन च्वांग ने इन विभिन्न अबौद्धों को कुछ भोंडेपन के साथ ही चित्रित किया है, ''कुछ तो मोरों के पंख खोंसे रहते हैं, कुछ अपने गलों में मुंड-माल डाले रहते हैं, कुछ बिल्कुल ही नंगधड़ंग घूमते रहते हैं, कुछ अपने बदन को घासपात या पत्तों से ढक कर रखते हैं, कुछ अपने बालों को उखाड़ कर अपनी मूछें कतर डालते हैं, कुछ अपने सिर के बालों की चोटी गूंध कर उनका जटाजूट बांध लेते हैं''। पर उसने यह कह कर उनकी प्रशंसा ही की है कि मानव समाज से दूर रह कर ये लोग ज्ञान प्राप्ति और आध्यात्मिक साधना में ही अपने सारे समय और शक्ति का उपयोग कर रहे हैं।

युआन च्वांग के राजसभा में आने के पहले से ही हर्ष का झुकाव बौद्ध धर्म की ओर हो चला था। मूर्तिपूजा और बलि देने वाले यज्ञ आदि के कारण हिंदू धर्म का जो रूप उनके सामने था उससे वे खुश नहीं थे। भगवान बुद्ध द्वारा प्रवर्तित धर्म के दर्शन में उनकी आस्था थी। युआन च्वांग बौद्ध धर्म के महायान संप्रदाय में अटूट आस्था लेकर भारत आया था। हर्ष के इस महान विदेशी अतिथि की जिस मत में इतनी अधिक श्रद्धा थी उसका भलीभांति प्रचार करने की दृष्टि से हर्ष ने अपनी राजधानी कन्नौज में एक बहुत बड़े धार्मिक सम्मेलन का आयोजन किया। तब तक महायान के सिद्धांतों का हर्ष पर काफी प्रभाव पड़ गया था। युआन च्वांग की कृति ''ह्सी-यू-ची'' में और ''युआन च्वांग की जीवनी'' में भी, हर्ष द्वारा

कन्नौज में आयोजित उस धार्मिक सम्मेलन का विवरण कुछ विस्तार के ही साथ दिया गया है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, इस सम्मेलन के दो उद्देश्य थे। एक तो बौद्ध धर्म के महायान संप्रदाय के सिद्धांतों का प्रचार करना, और दूसरे, चीन से आए अतिथि युआन च्वांग का सम्मान करना, जो उन सिद्धांतों का प्रमुख प्रतिपादक था। यह विवरण इस प्रकार है:—

''हर्ष के विशेष आदेश पत्र द्वारा, जो उनके राज्य के कोने-कोने में पहुंचा दिया गया था, सभी प्रकार के मतों के अनुयायियों को कान्यकुब्ज में आकर एकत्र होने के लिये निमंत्रित किया गया था। उस आदेशपत्र में इस सम्मेलन का जो उद्देश्य बताया गया था वह था ''चीन के महान मनीषी'' के सिद्धांतों की परीक्षा करना। केवल बौद्ध धर्म के अनुयायी निमंत्रित नहीं किए गए थे बल्कि पांचों भारत के ''ब्राह्मण'' और ''नास्तिक'' भी। राजा की सवारी बड़ी धूमधाम के साथ निकली थी। युआन च्वांग को अपने साथ लिए हर्ष गंगा नदी के दक्षिणी तट पर पूरी सजधज के साथ अपने यश की पताका फहराते हुए चल रहे थे। उनके प्रमुख सहयोगी कामरूप, अर्थात् असम के महाराज भास्करवर्मन भी उनके साथ साथ चल रहे थे, पर नदी के दूसरे तट पर। बौद्ध दर्शन में आस्था रखने वाले उन दोनों ही राजाओं को केवल नदी की धारा ने एक दूसरे से दूर कर रखा था। नदी के अपनी अपनी ओर तट पर दोनों ही बड़ी सजधज वाले सैनिकों की पंक्तियों का नेतृत्व कर रहे थे जो उनके पीछे पीछे हाथियों पर सवार थे, या नावों पर। वे नगाड़े बजा रहे थे, बीच बीच में तुरही बज उठती थी, और बांसुरी भी। इनके पीछे पीछे हजारों लोगों की भीड़ चल रही थी। अनुयायियों को लक्ष्य स्थान तक पहुंचने में नब्बे दिन लगे थे। वहां पहुंच कर उन्होंने देखा कि उनका स्वागत करने के लिए तब तक 'पांचों भारत' के बीस देशों के राजा पहुंच चुके थे। महायान और हीनयान से पूरी तरह अवगत तीन सहस्त्र धर्माध्यक्ष आ चुके थे, और तीन सहस्त्र ब्राह्मणों एवं निर्ग्रंथों के अतिरिक्त नालन्दा विद्यालयपीठ के एक सहस्त्र अध्येता भी। हर्ष और कुमार, असमराज, दोनों के ही साथ पांच पांच सौ युद्ध हस्ती चल रह थे। हर्ष ने सम्मेलन स्थान पर दो मंडप छाने और 100 फुट ऊंची एक मीनार खड़ी करने का आदेश दिया था, जिनके बीचों बीच बुद्ध भगवान की स्वर्ण प्रतिमा थी। प्रतिमा स्वयं राजा हर्ष की ऊंचाई की थी और वहां स्थापित करने के लिये बड़ी सजधज के साथ एक हाथी के ऊपर रख कर ले जाई जा रही थी। प्रतिमा के साथ ही साथ इन्द्रदेव जैसी वेशभूषा में राजा हर्ष स्वयं चल रहे थे, और असम के कुमार उनके पीछे भगवान ब्रह्मा के प्रतीक 'श्वेत छत्र' को लिए हुए थे। उनके पीछे रत्नों और पुष्पों का भार वहन करने वाले दो हाथी थे और एक तीसरे हाथी पर चीनी यात्री युआन च्वांग था।

अन्य तीन सौ हाथियों पर विभिन्न देशों के राजाओं, राजकुमारों, मंत्रियों और राजपुरोहितों की टोलियां थीं। ये सब जुलूस की प्रमुख धारा के दोनों ओर दोहरी पंक्ति बना कर चल रहे थे। जुलूस के साथ साथ आगे बढ़ते हुए राजा हर्ष, रास्ते के दोनों ओर, बुद्ध, धर्म और संघ, इन तीनों की पूजा के उपलक्ष में मोती, सोने चांदी के फूल और कितने ही अन्य मूल्यवान पदार्थ बखेरते जा रहे थे।''

''लक्ष्यस्थान पर पहुंच कर हर्ष ने पहले वेदी पर प्रतिमा को स्नान कराया और फिर स्वयं उसे पश्चिमी मीनार के ऊपर ले गए और मुक्ताजटित रेशमी आभरण उसे पहनाए।''

यहां देखने की बात यह है कि हर्ष ने जो पूजा विधि पालन की वह बौद्ध धर्म के महायान संप्रदाय की ही विधि थी जो स्वयं ही अन्य संप्रदायों की तुलना में हिंदू आचार विचार के कहीं निकट थी। प्रतिमा को स्नान कराने और वस्त्र पहनाने की पूजा विधि विशिष्ट रूप से हिंदू विधि है। हर्ष अपने बचपन से ही इसका पालन करते आए थे, क्योंकि एक अत्यंत धार्मिक हिंदू परिवार में ही उनका जन्म हुआ था, और बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेने पर भी वे कुछ प्राचीन विधियों का पालन करते रहे। सम्मेलन का जो विवरण ''ह्सी-यू-चि'' और ''जीवनी'' में आगे दिया गया है, इस प्रकार है :—

''फिर सम्मेलन मंडप में उन बीस देशों के राजा राजकुमारों, एक सहस्त्र राजपुरोहितों और पांच सौ ब्राह्मणों और नास्तिकों ने प्रवेश किया (बौद्ध धर्म के कट्टर अनुयायी होने के कारण युआन च्वांग ने जैनों अथवा संभवत: ब्राह्मणों को बराबर 'नास्तिक' ही कहा है) और विभिन्न राज्यों के दो सौ मंत्रियों ने भी। ''नास्तिकों'' को मंडप से बाहर ही बिठाया गया था। धार्मिक अनुष्ठानों के संपन्न होने पर आहार की व्यवस्था हुई और मंडप के अंदर और बाहर वाले सभी उसमें सम्मिलित हुए।

इसके बाद हर्ष ने सम्मेलन का उद्‌घाटन किया और औपचारिक रूप में युआन च्वांग से सम्मेलन के अध्यक्ष का आसन ग्रहण करने का अनुरोध किया। उन्होंने युआन च्वांग का उल्लेख ''शास्त्रार्थ सभा के अध्यक्ष'' के रूप में किया। अपना स्थान ग्रहण करने के बाद युआन च्वांग ने सभा की कार्यवाही महायान के सिद्धांतों के गुणगान से शुरू की, और शास्त्रार्थ का विषय निर्धारित करने के बाद नालन्दा से आए हुए एक श्रमण भिंडहियेन को अपना प्रवचन देने के लिये आमंत्रित किया। महान मनीषी युआन च्वांग ने सभामंडप के बाहर एक विज्ञप्ति पट्ट रखवा दिया था जिस पर लिखा था ''यदि कोई भी व्यक्ति प्रतिपादित निबंध में एक भी शब्द ऐसा निकाल सके जो तर्कसंगत नहीं है, यदि वह (युक्ति का) खंडन कर सके, तो मेरा विपक्षी चाहे तो दंडस्वरूप मेरा सिर ले सकता है''।

रात होने तक ऐसा कोई भी सामने नहीं आया जो खंडन में एक शब्द भी कह सकता। हर्ष को यह देख निस्संदेह बड़ी प्रसन्नता हुई और सभा को स्थगित कर वह अपने प्रासाद में विश्राम के लिये चले गए। अन्य लोग भी विश्राम के लिये अपने अपने नियत स्थानों पर चले आए।

दूसरे दिन प्रतिमा को (उसके आकार के संबंध में, कि वह पूरी ऊंचाई की थी अथवा केवल तीन फुट ऊंची, कई मत हैं) फिर सभामंडप में लाया गया, और लगातार पांच दिन तक पूरी की पूरी वही विधि अपनाई गई, और पांच दिन बाद हीनयान संप्रदाय के कुछ अनुयायियों ने युआन च्वांग की हत्या का षड्यंत्र रचा। (हीनयान मतावलम्बी या तो संख्या में कम थे, और या युआन च्वांग को राजा का सहारा मिला रहने का कारण उसका सामना करने में अपने को असमर्थ पा रहे थे, और जिस ढंग से सभा की कार्यवाही चलाई जा रही थी उससे वे बहुत ही अपमानित महसूस करने लगे थे)। राजा हर्ष को किसी प्रकार अपने गुप्तचरों से षड्यंत्र की खबर मिल गई और उन्होंने उसी क्षण इस आशय का घोषणा पत्र जारी कर दिया कि महामनीषी को यदि कोई भी चोट पहुंचाएगा या उनका स्पर्श तक करेगा तो उसे उसी दम फांसी चढ़ा दिया जाएगा, जो भी उसके विरुद्ध कुछ बोलेगा उसकी जीभ कटवा दी जाएगी, किंतु बाकी किसी को भी, जो इस आदेश का पालन करने में अपना कल्याण देखेंगे, इससे डरने की कोई जरूरत नहीं है।

हर्ष की यह व्यग्रता स्वाभाविक ही थी कि उनके देश में ज्ञान की पिपासा लेकर आने वाले उनके विदेशी अतिथि दार्शनिक को कोई चोट न पहुंचने पाए। राजा का यह नैतिक दायित्व था कि युआन च्वांग चीन को सही सलामत वापस जा सके। इसलिये अपने घोषणा पत्र में उन्होंने ठीक ही कहा कि उस यात्री को जो भी चोट पहुंचाएगा या जो उसका स्पर्श भी करेगा उसे मौत के घाट उतार दिया जाएगा। पर हर्ष के घोषणा पत्र में जो अगली बात उनकी ओर से कही बताई गई है, कि ''जो भी उनके विरूद्ध कुछ बोलेगा उसकी जीभ कटवा दी जाएगी,'' धार्मिक असहिष्णुता की ही परिचायक मानी जाएगी। कन्नौज का सम्मेलन ''सत्य'' का अन्वेषण करने के उद्देश्य से आयोजित किया गया था। हो सकता है कि युआन च्वांग के तर्कों से हर्ष पूरी तरह सहमत रहे हों कि 'महायान ही धर्म का एकमात्र सत्पथ है''। किंतु इससे भिन्न कुछ कहने वाले के मुंह को बंद कर देने की कोशिश से सत्य का अन्वेषण नहीं हो सकता और न सच्चे शास्त्रार्थ के लिये किसी को अवसर मिल सकता है।

स्वभावत : राज घोषणा का वांछित परिणाम हुआ और ''पथभ्रष्ट'' लोग अपना सा मुंह लेकर अदृश्य हो गए, जिसके फलस्वरूप अठारह दिन तक चलने वाले उस सम्मेलन की समाप्ति तक कोई भी ऐसा नहीं रहा जो ''संतुष्ट'' न हुआ हो।

सभा की कार्यवाही का इससे भिन्न एक दूसरा विवरण भी उपलब्ध है। उपर्युक्त विवरण ''युआन च्वांग की जीवनी'' से लिया गया था। किंतु युआन च्वांग ने अपनी ''ह्सी-यू-ची'' में स्वयं जो विवरण दिया है उसमें, स्वयं उसकी नहीं, राजा की हत्या के षड्यंत्र की बात कही गई है। वह लिखता है :

''सम्मेलन मेरे प्रवचन सुनने के लिए नहीं आयोजित हुआ था बल्कि दुरूह से दुरूह विषयों पर अनेकों पंडितों और विद्वानों का पांडित्यपूर्ण शास्त्रार्थ सुनने के लिए। सम्मेलन के लिये विशेष रूप से एक मीनार खड़ी की गई थी और एक सभा मंडप तैयार किया गया जिनके निर्माण पर बेहद खर्च हुआ था। उस मीनार में और सभा मंडप के प्रमुख द्वार के ऊपर के मंडप में सम्मेलन के अंतिम दिन आग लग गई। आग अवश्य जल्द ही बुझा दी गई, पर हर्ष स्वयं उसे देखने के लिये मीनार पर जा चढ़े थे। जब वे सीढ़ियों पर से नीचे उतर रहे थे तभी एक नास्तिक हाथ में छुरा लिये उन पर टूट पड़ा। किंतु राजा ने किसी तरह अपने को छुड़ा कर उल्टे उसी को पकड़ लिया। खबर पाते ही वहां उपस्थित सभी राजा महाराजाओं और सामंतों ने अपराधी का सिर धड़ से अलग कर देने की मांग की, पर हर्ष ने उसे दंड न दे उल्टे उसी से यह कबूल करा लिया कि वह उन धर्मद्रोहियों के इशारे पर काम कर रहा था जो सम्मेलन में हुए अपने अपमान का बदला लेने के लिए राजा की हत्या कराना चाहते थे। ''हे महाराज,'' वह बोला, ''आपने विभिन्न देशों के लोगों को यहां इकट्ठा किया है और श्रमणों को दान दे देकर और बुद्ध की धातु प्रतिमा की ढलाई कराके राजकोष को खाली कर दिया है। किंतु इन धर्मद्रोहियों से तो आपने बात तक नहीं की जो इतनी दूर से चल कर यहां आए हैं। इसलिए उनके मन बुरी तरह कड़वे हो उठे हैं और उन्होंने मुझ अभागे को इस कुकर्म के लिये खोज निकाला''। यह भंडाफोड़ होते ही सम्मेलन में उपस्थित पांच सौ ब्राह्मण कुल के कुल पकड़ लिए गए और उनकी जिरह की गई। उन्होंने ''स्वीकार किया'' कि श्रमणों को महाराज ने जो ''आदर सम्मान दिया था'' उससे क्षुब्ध होकर ही उन्होंने मीनार की ओर जलते हुए तीर छोड़कर उसमें आग लगा दी थी और उसी भगदड़ के बीच महाराज की हत्या कर डालने की चाल चली थी। उस हत्यारे को उन्होंने इसी उद्देश्य से नियुक्त किया था कि महाराजा जब किसी तंग जगह से निकलें तो वह उनकी हत्या कर दे। सभी उपस्थित लोगों ने मांग की कि उन सभी पांच सौ ब्राह्मणों का काम तमाम कर दिया जाय, पर महाराज ने उन्हें देश से निर्वासित करके ही छोड़ दिया, और केवल उन्हें ही दंड दिया जिन्होंने उस षड्यंत्र का सूत्रसंचालन किया था।

''जीवनी'' वाला विवरण ज्यादा सही हो या युआन च्वांग वाला विवरण, जो

बात बिल्कुल साफ है वह यह कि कन्नौज का वह सम्मेलन केवल नाम के ही लिये ''सभी धर्मों के विचारकों का सम्मेलन'' था। उस ''महान मनीषी'' के प्रति ही नहीं, उसके विचारों के प्रति भी हर्ष का पक्षपात बिलकुल स्पष्ट और प्रत्यक्ष था, और मतभेद रखने वालों को या तो अपने मुंह बंद रखते हुए अपमान की कड़वी घूंट गले उतारनी थी और या अपना मतभेद प्रकट करके सुनिश्चित दंड को निमंत्रण देना था। जो भी हो, इस सम्मेलन से युआन च्वांग का तो लाभ हुआ ही। उसकी कीर्ति पताका बहुत ही ऊंची फहरा उठी और जब यह प्रचारित हो गया कि हर्ष उसी के प्रभाव में है, तब सभी लोग उसका सम्मान करने लगे। बीस राज्यों के राजा राजकुमारों ने उसे अमूल्य रत्नों के उपहार और स्वयं हर्ष ने दस सहस्त्र स्वर्ण खंड, तीस सहस्त्र रजत खंड और एक सौ बहुमूल्य सूती परिधान उसे भेंट किए। चीनी यात्री को अवश्य उन्हें स्वीकार करने में संकोच था और उसने उन्हें लौटा दिया। फिर भी महाराजा ने आग्रहपूर्वक उसे हाथी पर चढ़ाया और नगर भर में उसका जुलूस निकाला जिसमें राज्य के मंत्रीगण शामिल थे। एक राजघोषणा भी की गई। इस घोषणा में कहा गया कि ''चीन से आए हुए महान मनीषी ने महायान के सिद्धांतों की सर्वोच्चता सिद्ध करके अन्य सभी विरोधी मतों की धज्जी धज्जी उड़ा दी है; अठारह दिन तक उनके सामने आने की किसी की हिम्मत तक नहीं पड़ी''। एकत्र भीड़ ने प्रसन्न होकर युआन च्वांग को ''महायान देव'' या ''मोक्षदेव'' की उपाधि से विभूषित किया।

कन्नौज सम्मेलन से हर्ष के धार्मिक रुझान का परिचय मिल जाता है। अन्य मतों से वे बौद्ध धर्म को अधिक मानते हैं, यह तो पहले से ही मालूम था। पर दूसरे किसी भी मत के मानने वालों को अपनी बात तक कहने का मौका न देना स्पष्ट ही उनकी धार्मिक असहिष्णुता का परिचायक था।

कन्नौज सम्मेलन के बाद युआन च्वांग ने अपने देश वापस लौट जाने के निश्चय की घोषणा की। किंतु हर्ष ने उसे वैसे ही एक दूसरे सम्मेलन के लिए निमंत्रित किया। प्रति पांच वर्ष पर प्रयाग में गंगा यमुना के संगम पर महाराजा एक धार्मिक सम्मेलन आयोजित करते थे। वैदिक काल से ही यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण तीर्थस्थान माना जाता था और यहां दान की गई एक कौड़ी का पुण्य दूसरे स्थानों पर दान की गई सहस्त्र मुद्रा से भी अधिक माना जाता था, जिसके कारण इसे 'दानक्षेत्र' ही कहा जाता था। अपने राज्य के पिछले तीस वर्षों की अवधि में हर्ष ऐसे ही पांच सम्मेलन पहले भी प्रयाग में कर चुके थे। महामोक्ष परिषद् के नाम से प्रसिद्ध इन सम्मेलनों का उद्देश्य राजकीय भिक्षा का दान था जिसे मोक्ष कहा जाता था। युआन च्वांग अपने देश को वापस लौट जाने के लिये आतुर था, पर राजा के

मधुर आग्रह को टालना भी उसके लिये कठिन हो गया। ''यदि हर्ष दूसरों के लिये अपनी संपत्ति का दान कर सकते हैं'' वह बोला, ''तो मैं भी घर लौटने का अपना मोह और कुछ दिन के लिये छोड़ सकता हूं''। अंत में वह उस सम्मेलन में उपस्थित होने के लिये राजी हो गया जिसमें हर्ष अपनी सारी संचित संपत्ति को दरिद्रों और भिक्षुकों के बीच बांटने जा रहे थे।

इस प्रकार, युआन च्वांग को साथ ले, हर्ष प्रयाग आए। निग्रन्थिक पांचों भारत से श्रमण निग्रन्थिक, नास्तिक, आदि सब प्रकार के मतावलम्बियों को ही नहीं दरिद्रों, अनाथों और अनाश्रितों को मिलाकर, लगभग पांच लाख व्यक्तियों के पास पहले ही निमंत्रण भेजे जा चुके थे। उत्तर में गंगा और दक्षिण में यमुना के बीच सम्मेलन के लिये जो दानशाला तैयार की गई थी उसका घेरा पंद्रह 'ली' (चीनी मील : 633 गज) का था। ''युआन च्वांग की जीवनी'' में इसका विस्तृत ब्यौरा दिया गया है : ''एक चौकोर जगह को बांस के बाड़ों से घेरा गया था जिनकी लंबाई हर ओर एक सहस्त्र फुट थी, और इस घेरे के बीच बीसों झोंपड़ियां लगाई गई थीं जिनमें से किसी में सोना, चांदी और मोती भरे थे, किसी में सूती और रेशमी वस्त्र, और किसी में सोने-चांदी की मुद्राएं। इस घेरे के बाहर आहार की व्यवस्था थी, और साथ ही, लगभग एक सौ नव निर्मित दालानों में, हजारों लोगों के विश्राम का प्रबंध किया गया था। गंगा नदी के उत्तरी तट पर हर्ष का शिविर था, और संगम के पश्चिम में दक्षिण भारत के राजा ध्रुवभट्ट का शिविर। (ध्रुवभट्ट वलभी राज था जिसे हर्ष ने पराजित किया था; बाद को वे मित्र ही नहीं हो गए थे, एवं विवाह संबंध द्वारा उनमें रिश्तेदारी भी हो गई थी।) असम नरेश कुमार का शिविर यमुना के दक्षिणी तट पर था, और इन शिविरों के बीच के विस्तृत स्थान में दान लेने के लिये एकत्र हजारों लोगों ने आश्रय ले रखा था।

यह पंचवार्षिक सम्मेलन पचहत्तर दिन तक चला करता था। पहले तो हर्ष और असम राज के अनुयायियों की सेना का जुलूस नाव पर सवार हुआ, और ध्रुवभट्ट की सेना का जुलूस हाथियों पर। और ये सब के सब, अठारह देशों के राजाओं को साथ ले, बड़ी धूमधाम के साथ आगे बढ़े।

पहले दिन का प्रारंभ एक कुटी में भगवान बुद्ध की प्रतिमा की प्रतिष्ठा और पूजन से हुआ। बहुमूल्य सामग्री और वस्त्र आदि दरिद्रों को बांटे गए। दूसरे दिन आदित्य (सूर्य भगवान) की प्रतिमा की उसी प्रकार प्रतिष्ठा की गई, और तीसरे दिन ईश्वरदेव, अर्थात शिव की प्रतिमा की। यहां यह बात विशेष रूप से ध्यान देने की है कि प्रयाग हिंदू धर्म का एक बहुत बड़ा गढ़ था और शायद हिंदू देवताओं की बिल्कुल ही उपेक्षा कर सकना हर्ष के लिए संभव नहीं हो पाया। इसलिये दूसरे

और तीसरे दिन हिंदू देवताओं की प्रतिमाओं की भी प्रतिष्ठा की जाने की बात महत्वपूर्ण हो उठती है, हालांकि इन दोनों दिन जो दान दिए गए वे पहले दिन की तुलना में आधे ही थे।

चौथे दिन ''धार्मिक लोगों'', अर्थात् बौद्धों, की जमात में से खासतौर पर चुने गए दस हजार लोगों को मुक्तहस्त से प्रचुर मात्रा में दान दिया गया। बाकी धर्मवालों को शायद अधार्मिक करार दे दिया गया। उस दिन दान पाने वाले प्रत्येक बौद्ध को स्वर्णखंड दिए गए, मोती दिए गए, वस्त्राभरण दिए गए और मधुर पेयों, पुष्पों और सुगंधित द्रव्यों से उनका सत्कार किया गया। इसके बाद के बीस दिन तक (पांचवें दिन से चौबीसवें दिन तक) ब्राह्मणों को दान दिए गए। उन्हें क्या क्या और कितना कितना दिया गया इसका ब्यौरा न युआन च्वांग ने दिया है न उसके जीवनीकार ने। इसके बाद के दस दिनों तक 'नास्तिकों' (जिससे संभवतः जैनों या बौद्ध धर्म के अन्य संप्रदायों से अभिप्राय है) को दान दिए गए फिर, उनके भी बाद वाले दिनों में, दूर दूर से आए हुए भिक्षुकों, दरिद्रों, असहायों और अनाथों को दान दिए गए।

इस प्रकार, दान देने का यह कार्य तब तक चलता रहा जब तक कि सारा कोष खाली नहीं हो गया। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, हर्ष का नियम यह था कि पांच वर्षों की अवधि के अंदर जो भी राजकीय संपत्ति संचित होती थी उसे वे उस अवसर पर धार्मिक लोगों, दरिद्रों, असहायों और जरूरतमंदों के बीच बांट देते थे। केवल घोड़े, हाथी, जैसी उस संपत्ति को वे बचा कर रखते थे जिसकी शासन व्यवस्था के लिये आवश्यकता रहती थी। किंतु भगवान बुद्ध के आदर्श का पालन करते हुए हर्ष अपने सभी रत्नों, वस्त्रों, मणिमालाओं, कर्ण भूषणों, कड़ों, बाजू बंदों और अपने मुकुट-मणि तक को दान में दे डालते थे।

इस प्रकार अपना सर्वस्व दान कर देने के बाद हर्ष ने अपनी बहन राज्यश्री से अपने तन को ढकने के लिये एक साधारण वस्त्र की भिक्षा मांगी।

बचत करके एकत्र की हुई राज्य की आय को प्रजाजनों के कल्याण के अन्य कार्यों में लगा कर उसका कहीं अधिक अच्छा उपयोग किया जा सकता था । इसमें संदेह नहीं, किंतु उसे इस प्रकार दान कर देने की यह विचित्र पद्धति हर्ष की अत्यधिक धार्मिक मनोवृत्ति की द्योतक तो है ही। अपने व्यक्तिगत सुख और आराम की जिंदगी बिताने की ओर हर्ष की रुचि ही नहीं थी। आज के युग में इस पद्धति के स्थान पर हम लोक कल्याण के साधनों और उत्पादन वृद्धि पर यह रकम खर्च करना पसंद करेंगे। निस्संदेह हर्ष की शासन व्यवस्था में समाज के स्थान पर व्यक्तियों की भलाई को इतना अधिक महत्व दिया जाता था कि हर पांच वर्ष पर सारा का सारा राजकोष इस प्रकार खाली कर दिया जाता था।

भगवान बुद्ध के दांत का उद्धार करने के लिये हर्ष ने कश्मीर पर जो चढ़ाई की थी उसका भी उल्लेख आवश्यक है। युआन च्वांग के अनुसार, कश्मीर के राजा ने उन लोगों की खूब आवभगत की थी और उस विदेशी यात्री के साथ वह बड़े अदब के साथ पेश आया था तथा हस्तलिखित ग्रंथों की नकल कराने में उसकी मदद के लिये बीस लिपिक और उसकी सेवा के लिये पांच सेवक दिए थे। उसी राजा के पास भगवान बुद्ध का वह दांत था। बुद्ध भक्त होने के नाते हर्ष उस स्मृति चिन्ह को प्राप्त करना चाहते थे। कहा जाता है कि कश्मीरी लोग उस पवित्र दांत को देने के लिये तैयार नहीं थे, किंतु हर्ष ने या तो बलपूर्वक या समझा बुझा कर उसे प्राप्त करके ही चैन लिया। कल्हण की राजतरंगिणी में ''इस देश'', अर्थात् कश्मीर के, कुछ काल तक हर्ष के अधिकार में रहे आने का उल्लेख है।

इदं स्वभेदविधुरं हर्षादीनां धराभुवां।
कंचित्कालमभद् भोज्यं ततः प्रभृति मण्डलम्।।

इन सब बातों से ऐसा लगता है कि हर्ष के शासन काल में बौद्ध धर्म को राज धर्म का स्थान प्राप्त था और उन्होंने विधिपूर्वक इसे प्रोत्साहन दिया भी। उनके बारे में यहां तक कहा गया है कि कन्नौज राज सदाचार के नियमों के पालन में कुछ भी उठा नहीं रखते थे और धर्म वृक्ष को रोपने में उनकी निद्रा और भूख प्यास सब छूट गई थी। जीव हत्या और मांस भक्षण करने वालों को बड़ा कड़ा दंड दिया जाता था। सभी राजमार्गों पर पुण्यशालाएं बनवा दी गई थीं जहां जरूरतमंदों को भोजनादि देने की व्यवस्था के साथ साथ यात्रियों को निःशुल्क चिकित्सा के लिये वैद्यों और औषधियों का भी प्रबंध था। अकबर की ही भांति हर्ष भी अत्यंत धार्मिक होने के कारण एक दयालु शासक थे और साधारण प्रजा की भलाई में लगे रहते थे।

6

कवि और साहित्य-संरक्षक के रूप में

हर्ष के चरित्र के कितने ही पहलुओं पर हम विचार कर चुके हैं। चौदह साल की कच्ची उम्र में ही उनके कंधों पर अपने पिता के उत्तराधिकार से प्राप्त दायित्व आ पड़ा था। तब भी उनका सैन्यबल साधारण नहीं था जिसे लेकर उन्हें उसी दम लड़ाई के मैदान में उतरना पड़ गया था, पहले अपने बड़े भाई की हत्या का बदला लेने के लिये, और फिर बंदीगृह में पड़ी अपनी बहन को छुड़ाने के लिये जिसके पति की भी निर्ममतापूर्वक हत्या कर डाली गई थी। ये दोनों ही कार्य उन्होंने बड़ी तेजी से पूरे कर डाले और नाम हासिल किया। इतना ही नहीं, पहले तो सभी छोटे मोटे राजों-सामंतों को सबक देने के लिये वे कूच पर कूच करते चले गए ताकि वे लोग जान लें कि जो भी उनके खिलाफ सिर उठाएगा उसे कुचल दिया जाएगा; और फिर, अपना साम्राज्य स्थापित करने की दृष्टि से, दिग्विजय के लिये निकल पड़े। उन्होंने एक परिष्कृत और सुव्यवस्थित प्रशासन स्थापित कर इस क्षेत्र में एक आदर्श प्रस्तुत किया और अपनी प्रजा के लिये जीवन की सभी आवश्यक सुविधाएं जुटाने के काम में तन मन से जुट गए। हर्ष गहरी धार्मिक प्रवृत्ति के राजा थे और अपने पैतृक धर्म को छोड़ वह बौद्ध धर्म के परम अनुयायी हो गए थे। पर उनमें इससे भी बढ़कर गहरा मानव प्रेम था, जिसके कारण वे दरिद्रों और योग्य पात्रों की सहायता के लिये अपना सारा राजकोष खाली कर दिया करते थे।

हर्ष के बारे में यदि इतने से अधिक कुछ भी न कहा जा सकता तब भी इतिहास में उनकी गणना बड़े से बड़े महापुरुषों में होती। पर इतना ही तो नहीं था! वे न केवल मानव प्रेमी, परम परोपकारी, सुयोग्य प्रशासक, वीर सैनिक और सुदक्ष सेनापति थे बल्कि साथ ही साथ साहित्यकार भी। उन्होंने काव्य और नाटक-नाटिकाओं की स्वयं तो रचना की ही, साथ ही कितने साहित्यकारों का संरक्षण किया। युआन च्वांग ने लिखा है कि राजा हर्ष की निजी भूमि से होने वाली आय का एक चतुर्थांश उच्चकोटि की बौद्धिक प्रतिभा वाले लोगों को पुरस्कार आदि पर खर्च होता था। एक सुविख्यात बौद्ध विद्वान को हर्ष ने एक दो नहीं, अस्सी गांव दे डाले थे और

बाण तथा अन्य साहित्यकारों को करोड़ों स्वर्णमुद्राएं दी थीं। यहां तक कि वे अधम माने जाने वाले लोगों को भी संरक्षण देते थे, जैसा कि उस कविता से स्पष्ट है जिसमें सुप्रसिद्ध कवि बाण और मयूर का उल्लेख है। कविता में कहा गया है कि "देवी सरस्वती का प्रभाव इतना अधिक है कि दिवाकर जैसा अस्पृश्य भी बाण और मयूर के ही समान श्री हर्ष की राजसभा में समान स्थान पा गया।

(अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातंगदिवाकरः ।
श्री हर्षस्याभवत् सभ्यः समो बाणमयूरयोः ।।)

साहित्य में इस बात के कितने ही उल्लेख हैं कि हर्ष एक बड़े साहित्यकार थे। हर्ष के कथाकार बाण ने उनके साहित्यकार होने का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उनके कवित्व का वर्णन करने में वाणी असमर्थ है। (अपि चास्य कवित्वस्य वाचः ... न पर्याप्तो विषयः।) बाण ने यह भी लिखा है कि "काव्य प्रतियोगिताओं में वे दूसरों से उधार लिए हुए शब्दों का प्रयोग न कर अपने ही शब्दों की सुधा वृष्टि करते थे"। (काव्य-कथासु अपतिमप्यमृतमुदमन्तम्) 'सुभाषित रत्नभण्डार' में भी हर्ष का उल्लेख बड़े सम्मान के साथ किया गया है और कहा गया है कि वे उन कवियों में हैं जो "अपनी रचनाओं द्वारा जगत को आनंद देते हैं"। (माधश्चोरो मयूरो मुररिपुरपरो भारविः सारविद्यः। श्रीहर्षः कालीदासः कविरथ भवभूत्याह् वयो भोजराजः ।।) कवि जयदेव लिखित नाटक 'प्रसन्न राघव' में भी इसी प्रकार विख्यात कवियों के नाम गिनाए गए हैं और यह बताया गया है कि उनमें से साहित्य के पृथक् पृथक् क्षेत्रों में किस की क्या उपलब्धि रही। जयदेव के अनुसार, कविताकामिनी निश्चय ही सबको पसंद आएगी क्योंकि वह कितने ही सुविख्यात कवियों को अपने अंगों का आभूषण बनाए हुए है और इनमें हर्ष तो हर्ष (आनंद) ही देने वाले हैं :-

(यस्याश्चोरश्चिकुरनिकुरो कर्णपूरो मयूरो
भासो हासः कविकुलगुरुः कालीदासो विलासः
हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पंचबाणस्तुः बाणः
केषां नैषा कथय कविताकामिनी कौतुकाय ।।)

अपनी 'उदय-सुंदरी-कथा' में एक अन्य कवि शोड्ढल ने हर्ष के बारे में लिखा है कि हर्ष राजा तो थे ही पर काव्य रचना में भी आनंद लेते थे और साथ ही उन्होंने अपनी सभा में बाण को करोड़ों स्वर्ण मुद्राएं दी थीं : -

(श्रीहर्ष इत्यवनिवर्त्तिषु पार्थिवेषु
नाम्नैव केवलमजायत वस्तुतस्तु,
गीर्हर्ष एष निजसंसदि येन राज्ञा
संपूजितः कनककोटिशतेन बाण ।।)

मधुसूदन की 'भावबोधिनी' में कहा गया है कि 'रत्नावली' नाटिका के रचयिता, और कवियों के सिरमौर, महाराज श्रीहर्ष की सभा में बाण और मयूर नाम के दो कवि रहते थे।

चीनी यात्री ई-त्सिंग ने जो युआन च्वांग की ही भांति, सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बाद को भारत आया था, इस बात की पुष्टि की है कि हर्ष साहित्यकार भी थे। ''राजा शिलादित्य ने (जो हर्ष का ही नाम था) उन बोधिसत्व जीमूतवाहन की कथा को छंदोबद्ध किया है जिन्होंने नाग के बदले में स्वयं अपने को सौंप दिया था। उनकी इस रचना को संगीतबद्ध करके उन्होंने एक मंडली द्वारा नृत्य के साथ-साथ उसका अभिनय कराया और इस प्रकार अपने समय में उसे लोकप्रिय बनाया।''

कवियों और साहित्यकारों को संरक्षण देने की हर्ष की प्रथा का उल्लेख मम्मट के सुप्रसिद्ध अलंकार ग्रंथ 'काव्यप्रकाश' में भी किया गया है। काव्य के लाभ गिनाते हुए मम्मट ने कहा है कि काव्य रचना से अन्य वस्तुओं के साथ साथ धन भी मिलता है :

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्ता संमिततयोपदेशयुजे।।

फिर इनमें से प्रत्येक लाभ का अलग अलग स्पष्टीकरण करते हुए ''धन लाभ'' (अर्थकृते) का उदाहरण देकर उन्होंने लिखा है—''जिस प्रकार बाण और अन्य कवियों ने हर्ष से धन प्राप्त किया'' (हर्षादिर्बाणादीनामिवं धनम्)। 'काव्यप्रकाश' के कुछ पाठांतरों में बाण के स्थान पर धावक का नाम है। पर यह किसी भूल के कारण हो सकता है, क्योंकि यह मानी हुई बात है कि बाण को हर्ष से बहुत बड़ी स्वर्ण राशि प्राप्त हुई थी। तथ्य की बात यह है कि हर्ष कवियों और साहित्यकारों को संरक्षण देते थे, भले ही बाण रहे हों या धावक। 'काव्यप्रकाश' कार ने यह बात नहीं कहनी चाही है कि बाण (या धावक) को हर्ष ने धन दिया, बल्कि एक नमूना पेश किया है कि इस तरह का संरक्षण दिया जाता था। दुर्भाग्यवश, 'काव्यप्रकाश' के कुछ भाष्यकारों ने दो विवाद खड़े कर दिए हैं। मम्मट के कथन का आशय स्पष्ट है कि हर्ष साहित्यकारों को इतना अधिक संरक्षण देते थे कि वह आम चर्चा का विषय बन गया था। पर भाष्यकारों ने खींचातानी करके इससे यह आशय निकालने की हर तरह से कोशिश की है कि हर्ष ने बाण को काफी धन देकर उनकी लिखी 'रत्नावली' अपने नाम से खरीद ली। किंतु 'रत्नावली' नाटिका के अंदर ही इस बात के प्रमाण मौजूद हैं कि उसका लेखक बाण नहीं था, हर्ष ही थे। पहले तो बाण की शैली बड़ी अलंकारिक है, जैसे कि उसकी 'कादम्बरी' या 'हर्षचरितम्' से स्पष्ट है। लंबे लंबे वाक्यों, अंतहीन उपमाओं और पौराणिक संदर्भों का प्रयोग

किए बिना वह रह ही नहीं सकता। बाण का आशय समझने के मार्ग में पाठक के सामने पद पद पर ये बाधाएं आती हैं। 'रत्नावली' में ऐसा नहीं है; उसका कथानक ही सरल नहीं है, शैली भी सीधी सादी है। फिर, अपने नाम को बेच कर ही यदि बाण को धन संचय करना था तो निश्चय ही उसने अपनी दूसरी रचना 'कादम्बरी' को बेच कर कहीं अधिक परिमाण में धन पैदा करना पसंद किया होता। 'रत्नावली' में ऐसी घटनाएं भी आती हैं जो स्वयं राजा हर्ष के जीवन में घटित हुई थीं, और इसलिये भी इसी की संभावना अधिक है कि यह नाटिका वस्तुतः उन्होंने ही लिखी।

'काव्यप्रकाश' पर 17 वीं सदी में 'काव्यप्रदीपोद्योत' नाम का एक भाष्य लिखा गया, जिसकी भी कई लोगों ने दुहाई दी है। इस भाष्यकार ने लिखा है कि सुनने में आया है कि धावक नाम के कवि ने श्रीहर्ष के नाम से 'रत्नावली' लिखकर बहुत सा धन प्राप्त किया। (धावकःकविः। स हि हर्षनाम्ना रत्नावलीं कृत्वा बहु धनं लब्धवानिति प्रसिद्धम्।)

एक ऐसी ही कहानी, संस्कृत हस्तलिपियों पर लिखी गई एक पुरानी रिपोर्ट के अनुसार, परमानंद ने दुहराई है। वह भी कहता है कि धावक नाम के एक कवि ने 'रत्नावली' नाम की अपनी नाटिका को श्रीहर्ष नाम के राजा को बेचकर बहुत सा धन प्राप्त किया, और यह बात बहुत काल पहले की है। (धावकनामा कविः स्वीकृतिं रत्नावलीं नाम नाटिकां विक्रीय हर्षनाम्नो राज्ञः सकाशाद् बहु धनमवापेति पुरावृतम्।)

हमारी पीढ़ियों को जो संस्कृत साहित्य प्राप्त हुआ है उसमें धावक नाम के किसी कवि का पता नहीं चलता। इसलिये यह विश्वास करने को जी नहीं चाहता कि वह इतना विख्यात कवि था। इसके अलावा, यह विवाद हर्ष की तीन नाटिकाओं में से केवल एक को ही लेकर है। ये भाष्यकार भी, जिनमें से कई तो हर्ष के लगभग एक हजार वर्ष बाद के हैं, उनकी 'रत्नावली' के ही लिये यह बात कहते हैं, उनके अन्य दो नाटकों, 'प्रियदर्शिका' और 'नागानंद' के लिए नहीं। किंतु बताया जाता है कि हर्ष ने तो इन सबके अतिरिक्त 'सप्रभातस्त्रोत' भी लिखा जिसके लेखक के रूप में विशिष्ट रूप से उनके नाम का उल्लेख है।

इस प्रसंग में 'कवि विमर्ष' नाम की एक और रचना की भी चर्चा की जाती है जिसे सुप्रसिद्ध साहित्यकार राजशेखर ('काव्यमीमांसा' के लेखक) द्वारा लिखा बताया जाता है। किंतु राजशेखर द्वारा रचित 'कवि विमर्ष' नाम की कोई भी रचना ज्ञात नहीं है। इसलिये यह निष्कर्ष निराधार है।

कारणंतु कवित्वस्य न संपन्नकुलीनता।

धावकोऽपि हि यद् भासः कवीनामग्रिमोऽभवत्।।
अदौ भासेन रचिता नाटिका प्रियदर्शिका।
तस्य रत्नावली नूनं रत्नमालेव शोभते।।
नागानंद समालोक्य तस्य श्रीहर्षविक्रमः।
आनंदानंदभरितः स्वसभ्यमकरोत्कविम्।।

उपर्युक्त छंदों के आधार पर भी कुछ ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इन नाटक नाटिकाओं का लिखने वाला वस्तुतः भास था। पर जिस प्रकार यह निष्कर्ष सही नहीं है उसी प्रकार पिछले निष्कर्ष भी गलत हैं, और यह बात आसानी से मान ली जाती है कि इन तीनों नाटक नाटिकाओं को हर्ष ने ही रचा था।

अब इन तीनों नाटक नाटिकाओं पर हम दृष्टिपात करें। इनमें से पहली और सर्वाधिक लोकप्रिय नाटिका 'रत्नावली' है। यह नाटक नहीं, नाटिका कहलाती है जिसका लक्षण यह है कि इसका कथा विषय या तो काल्पनिक हो अथवा पौराणिक; इसका नायक कोई राजा हो जो विनीत, दयालु और शिष्ट हो; इसकी नायिका किसी राजघराने की हो, आदि, आदि। नाटिकाओं का नाम भी प्रायः नायिका के नाम पर ही हुआ करता है । 'रत्नावली' नाटिका का यह नाम भी नायिका के ही नाम पर पड़ा। ये नाटिकाएं मनोरंजनात्मक और सुखांत होती हैं जिनमें चार ही अंक होते हैं, जबकि दूसरी ओर, नाटकों में पांच, या सात, या दस अंक तक होते हैं (जैसा मृच्छकटिकम् में)।

रत्नावली सिंहल द्वीप की एक राजकुमारी थी जिसका कौशाम्बी के राजा उदयन के साथ हुआ मिलन इस नाटिका का मुख्य कथानक है।

नान्दी के बाद प्रस्तावना में सूत्रधार आकर दर्शकों को उस दिन खेले जाने वाले खेल के बारे में बताता है कि यह राजा श्रीहर्ष रचित रत्नावली है। इसके बाद ही पहला अंक शुरू हो जाता है। सिंहल द्वीप (आधुनिक लंका) के राजा विक्रमबाहु की एक लड़की थी, रत्नावली। एक सिद्ध पुरुष ने कुछ समय पहले भविष्यवाणी की थी कि उसका पति सार्वभौम राजा होगा। राजा उदयन के प्रधानमंत्री यौगंधरायण के कानों तक यह बात पहुंची और उसने अपने राजा के साथ रत्नावली के विवाह की ठानी। राजा उदयन की एक पत्नी मौजूद थी, रानी वासवदत्ता, और राजा उसे अप्रसन्न करने को तैयार नहीं थे। उन्होंने यह सुझाव अस्वीकार कर दिया। इस पर यौगंधरायण ने एक झूठी खबर उड़वा दी कि जंगल की एक आग में रानी वासवदत्ता जल मरी है। इस प्रकार विक्रमबाहु को उदयन के साथ अब अपनी कन्या का विवाह करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती थी, क्योंकि अन्य सभी दृष्टियों से तो वे उपयुक्त वर थे ही। उसने रत्नावली को एक जहाज पर कौशाम्बी के लिये रवाना

कर दिया। बीच समुद्र में ही जहाज डूब गया, किंतु एक व्यापारी ने राजकुमारी को बचा लिया जो एक तख्ते से चिपटी हुई थी। राजकुमारी अपने गले में सदा एक रत्नमाला पहने रहती थी जिसके कारण व्यापारी ने उसे पहचान लिया। यौगंधरायण के पास जब राजकुमारी को पहुंचा दिया गया तो मंत्री ने उसकी असलियत को तो छिपा कर रखा, पर उसे रनिवास में पहुंचा कर सागरिका (सागर की) के नाम से एक परिचारिका के रूप में काम पर लगा दिया। दर्शकों को यह सारी कथा यौगंधरायण की जबानी मालूम होती है, जो 'स्वगत' के रूप में रंगमंच पर अपनी बात कह रहा है। जिस जहाज पर रत्नावली आ रही थी उस पर उसके अभिभावक के रूप में उदयन का कंचुकी बाभ्रव्य और विक्रमबाहु का मंत्री वसुभूति भी थे। वे दोनों भी बचा लिए गए थे, पर रत्नावली के भी बचा लिए जाने की बात उन्हें नहीं मालूम थी। उसके डूब जाने में उन्हें कोई संदेह नहीं रहा था, पर उन्होंने यह बात अपने तक ही रखी। लौटते ही वे सीधे सेनापति रुमण्वान की सेना में सम्मिलित हो गए जिसे उदयन ने कौशल देश पर विजय प्राप्त करने के लिये भेजा था। (विक्रमबाहु के मंत्री ने भी यह बात गुप्त ही रखी, यह सर्वथा अविश्वसनीय है। राजकुमारी के जलमग्न हो जाने के समाचार पर स्वभावत: वह उसका पता लगाने के लिये हर एक की सहायता मांगता और उस घटना को किसी प्रकार भी गुप्त न रखता। इस नाटिका के विकास में यह एक बड़ी ही कमजोर कड़ी है।) इस प्रकार वे दोनों ही व्यक्ति जो सागरिका का भेद खोल सकते थे दूर ही दूर रखे गए, और यौगंधरायण ने सोचा कि इस छद्मवेष में यह सागरिका अपने रूप के बल पर उदयन का हृदय जीत ले सकेगी। अब विदूषक के साथ साथ उदयन का प्रवेश होता है। वार्षिक मदनोत्सव की धूम थी। दो चेरियां (दासियां) मदनिका और चूतलतिका नाचती और गाती हुई रंगमंच पर आती हैं। विदूषक भी मौज में आ कर उनके नाच गाने में शामिल हो जाता है। कुछ देर के रागरंग के बाद, चेरियां महाराज को महारानी का संदेशा देती हैं कि उनकी बड़ी इच्छा है कि महाराज आज मकरंद उपवन में पधारें। महाराज यह अनुरोध स्वीकार कर लेते हैं और विदूषक को साथ लिए वहां पहुंचते हैं। महारानी भी कांचनमाला, सागरिका (अर्थात् रत्नावली) और अन्य परिचारिकाओं के साथ साथ आती हैं। रूपवती सागरिका को महारानी अपने पति के सामने नहीं पड़ने देना चाहतीं और उसे किसी बहाने कहीं भेज देती हैं। (वह उसे साथ लेकर आई ही क्यों, यह समझना कठिन है। महाराज को मकरंद उपवन में स्वयं महारानी ने ही तो बुलाया था। नाटिकाकार यह भिड़ाने की कोशिश कर रहा है कि महाराज को सागरिका की एक झलक मिल गई थी और इसलिये उसने यह ढीली कड़ी यहां बिठा दी है।) किंतु सागरिका को इस नए देश में मनाए जाने

वाले मदनोत्सव को देखने का कुतूहल है, इसलिए वह एक पेड़ के पीछे छिप कर उत्सव देखने लगती है। महारानी पहले कामदेव का और फिर अपने पति का पूजन करती हैं। सागरिका ने महाराज को पहले कभी नहीं देखा था; वह उनकी ओर आकृष्ट होती है, प्रथम दर्शन में ही प्रणय वाली बात। पहला अंक यहीं समाप्त हो जाता है।

फिर एक प्रवेशक (दो अंकों के बीच की कड़ी के रूप में) में दो परिचारिकाएं सूचना देती हैं कि महाराज आज नवमल्लिका लता को देखने के लिये जाने वाले थे जिसको बिना ऋतु के ही पुष्पित करने का एक प्रयोग होने वाला है, और सागरिका चित्रकारी की सामग्री ले कदलीवन में पहुंची हुई है। फिर दर्शकों को स्वयं सागरिका दिखाई देती है जो विरहकातर अवस्था में महाराज का चित्र अंकित करके अपने को बहला रही है। चित्र बना कर जब सागरिका उसकी ओर ताक रही है तभी उसकी सखी सुगमगता आ पहुंचती है और वह यह देख लेती है। सुगमगता महारानी के प्रिय पक्षी सारिका का पिंजड़ा लिए हुए आई है। सागरिका सुगमगता को अपने दिल की बात बताती है कि किस प्रकार वह महाराज के प्रेम में पड़ गई है। सारिका यह बातचीत सुनती है और टांक लेती है। इसी बीच एक बाधा उपस्थित होती है। समाचार मिलता है कि एक बंदर कहीं से छूट गया है और स्त्रियों और बच्चों को डरा रहा है। सागरिका और सुगमगता दोनों ही जल्दी से रंगमंच पर से चली जाती हैं; सारिका के पिंजड़े पर बंदर लपकता है जिससे उसका दरवाजा खुल जाता है और सारिका उड़ जाती है। विदूषक का प्रवेश होता है और वह महाराज को नवमल्लिका लता पर किए गए प्रयोग की सफलता के बारे में बताता है। तभी उन्हें वह सारिका दिखाई पड़ती है जो अपनी सखी के साथ हुए सागरिका के उस रहस्यालाप को तोते की तरह रटती हुई दुहराने लगती है। सखियों की बातचीत में नाम तो कोई आया नहीं था, इसलिए महाराज और विदूषक समझ नहीं पाते कि किन के बीच यह बातचीत हुई। आगे बढ़ने पर उन्हें सागरिका द्वारा चित्रित वह चित्रपट दिखाई देता है जो वहीं छूट गया था। विदूषक उस चित्र में राजा की छवि देखता है, पर राजा के चित्र के साथ ही सुगमगता द्वारा अंकित सागरिका के चित्र को उनमें से कोई नहीं पहचान पाता क्योंकि उन्होंने उसे देखा तो था नहीं। इसी बीच सागरिका और सुगमगता परित्यक्त सारिका और चित्र फलक को लेने के लिये लौट पड़ती हैं, और महाराज और विदूषक को वहां देख छिपे छिपे उनकी बातचीत सुनने की कोशिश करती हैं। पर तब तक महाराज भी चित्रांकित उस अपरिचित तरुणी के प्रति आसक्त हो उठते हैं, और तब सुगमगता महाराज से अपनी सखी का परिचय कराती है। सागरिका घबड़ा उठती है कि कहीं महारानी वहां न आ

पहुंचें और उसे वहां देख अप्रसन्न हो उठें, इसलिये वह वहां से चली जाती है। महारानी वासवदत्ता का प्रवेश होता है, वे उस चित्र को देखती हैं और उसमें अपने पति के पार्श्व में सागरिका को पहचान जाती हैं। महाराज के उलटे पुलटे उत्तरों से वे रुष्ट हो जाती हैं और बिगड़ कर चल देती हैं। महाराज और विदूषक भी ग्लानि से सिर झुकाए वहां से चल देते हैं। दूसरा अंक समाप्त हो जाता है।

फिर एक प्रवेशक में दो परिचारिकाएं बताती हैं कि किस प्रकार सुगमगता ने महाराजा और सागरिका को एक दूसरे के साथ मिलाने का षड्यंत्र रचा। सागरिका को महारानी का छद्मवेष धारण करना था और सुगमगता को महारानी की परिचारिका कांचनमाला का। महाराजा का प्रवेश होता है और विदूषक उन्हें यह योजना बताता है। इस बीच महारानी को भी इस षड्यंत्र का पता चल जाता है और वे भी वहीं आ पहुंचती है। महाराजा और विदूषक तो समझे बैठे हैं कि यह वासवदत्ता नहीं उनके छद्मवेष में सागरिका ही है, और इसी ढंग से उससे बात करना शुरू कर देते हैं। जल्द ही राजा को अपनी भूल का पता चल जाता है और वे वासवदत्ता को प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं, किंतु महारानी बेहद नाराज होकर वहां से चली जाती हैं। तब असली सागरिका (वासवदत्ता के वेष में) आती है। उसे संदेह हो जाता है कि महारानी के समक्ष पोल खुल गई है, और वह आत्महत्या करने पर उतारू हो जाती है। महाराजा फिर भूल कर बैठते हैं और उसे असली वासवदत्ता ही मान बैठते हैं। पर जब वे उसे बचाने के लिये आगे बढ़ते हैं तब उन्हें अपनी भूल का पता लगता है और अपनी प्रेमिका के साथ होने वाले इस अप्रत्याशित मिलन से पुलकित हो उठते हैं। पर तभी महारानी भी, अपने दुर्व्यवहार पर पछताती हुई महाराजा को मनाने के लिए फिर वहां आ पहुंचती है, पर वे महाराजा को सागरिका के साथ इस तरह घुला मिला पाती हैं। महाराजा बुरी तरह लज्जित हो उठते हैं।

अंतिम अंक में महारानी यह खबर फैला देती हैं कि सागरिका अपने पिता के घर उज्जयिनी भेज दी गई, जब कि वस्तुत: उन्होंने उसे अपने प्रासाद में ही बंदी बना कर रख छोड़ा है और सबके आने जाने पर रोक लगा दी है। एक और प्रवेशक में परिचारिका सुगमगता विदूषक के हाथ में रत्नमाला देती है। यह सागरिका के गले का हार है जिसे उसने किसी ब्राह्मण को दान में दे देने के लिये उसे दिया है, क्योंकि उसने अपने जीवन का अंत कर लेने का निश्चय तो कर ही लिया है। विदूषक महाराजा को बताता है कि किस प्रकार सागरिका उज्जयिनी भेज दी गई थी, और उन्हें रत्नों का वह हार दिखाता है। इसी बीच कौशल देश पर चढ़ाई करने के लिये भेजी गई रूमणवान की सेना की विजय का समाचार प्राप्त होता है।

फिर एक जादूगर आता है जिसका तमाशा महाराज देखते हैं, पर तमाशे के बीच में ही बाभ्रव्य और वसुभूति आ जाते हैं जो अब तक रुमण्वान की सेना के साथ थे और अब राजधानी को लौट चुके थे। वसुभूति की दृष्टि विदूषक के हाथ के उस रत्नहार पर पड़ती है और वह पहचान लेता है कि यह तो रत्नमाला के गले का हार है। तब वह रत्नावली और उदयन के विवाह की योजना का सारा ब्यौरा सुनाता है। अब कोई खबर लाता है कि रनिवास में आग लग गई है। वासवदत्ता डरती है कि सागरिका (जो बंदी थी) कहीं आग में जल कर भस्म न हो जाय। वे उसके बंदी किए जाने की बात बता कर महाराज से उसकी रक्षा करने का अनुरोध करती हैं। महाराज उसी दम दौड़ पड़ते हैं और आग की लपटों के बीच से सागरिका को सुरक्षित निकाल लाते हैं। तब इस बात का पता चलता है कि आग बनावटी थी, उस जादूगर की ही कारस्तानी। वसुभूति उसी क्षण राजकुमारी रत्नावली को पहचान जाता है और सारी बातें साफ हो जाती हैं। वासवदत्ता को बड़ा अनुताप होता है कि उसने प्रतिस्पर्द्धावश रत्नमाला को इतनी यातना दी। यौगंधरायण का प्रवेश होता है जो उस मामले में अपनी साजिश का भंडाफोड़ करता है। वह यह भी बताता है कि उस जादूगर को सागरिका को बंदीगृह से छुड़ाने की नीयत से उसी ने भेजा था। सभी को आनंद होता है और महारानी उदयन और रत्नावली के विवाह की अनुमति दे देती हैं।

इस नाटिका में कितनी ही हास्यास्पद स्थितियां लाई गई हैं जो स्पष्ट रूप में अविश्वसनीय हैं। किंतु नाटिका प्रहसनात्मक होती ही है और युक्ति की कसौटी पर हम उसकी घटनाओं को नहीं कसते। रत्नावली या प्रियदर्शिका जैसी मनोरंजनात्मक नाटिकाओं में इस तरह की स्थितियों के लिये तो तैयार ही रहना होता है।

''प्रियदर्शिका'' हर्ष की दूसरी नाटिका है। अजीब बात यह है कि इस का भी कथानक बहुत कुछ पहले जैसा है। दोनों (''रत्नावली'' और ''प्रियदर्शिका'') में ही नायिका का नायक के साथ विवाह हो जाने को है। प्रथम दृष्टि में ही नायिका का नायक से प्रेम हो जाता है; ईर्ष्यालु रानी उसे बंदीगृह में डाल देती है; नायिका आत्महत्या करना चाहती है (यद्यपि उसके प्रकार कुछ कुछ भिन्न हैं); और अंत में वह बचा ली जाती है। ''प्रियदर्शिका'' नाटिका मंगलाचरण के बाद आरंभ होती है और सूत्रधार घोषणा करता है कि श्रीहर्ष वसंतोत्सव के उपलक्ष में एक नयी नाटिका ''प्रियदर्शिका'' को रंगमंच पर प्रस्तुत कर रहे हैं।

वृद्ध कंचुकी का प्रवेश होता है जो अपने राजा अंगराज दृढ़वर्मा के लिए दुख प्रकट करता हुआ बताता है कि राजकुमारी प्रियदर्शिका का कहीं पता नहीं चल रहा है। विवाह में अपनी कन्या को देने से इंकार करने पर कलिंगराज ने दृढ़वर्मा

पर प्रचंड आक्रमण कर दिया था। कंचुकी ने प्रियदर्शिका को युद्धस्थल से दूर ले जाकर वनराजा विंध्यकेतु के घर में रख दिया था। वह बाद को उसे राजा उदयन के पास पहुंचा देना चाहता था जिनके साथ दृढ़वर्मा अपनी कन्या के विवाह का इच्छुक था।

किंतु कंचुकी की अनुपस्थिति में किसी ने विंध्यकेतु की हत्या कर डाली और उसका घर फूंक कर राख कर दिया। कंचुकी को पता नहीं कि प्रियदर्शिका उस आग में जीवित ही जल मरी या कोई उसे उड़ा ले गया। राजा प्रद्योत की कन्या वासवदत्ता के साथ उदयन के भाग जाने का, और दृढ़वर्मा के बंदी होने का उल्लेख भी किया जाता है। यह प्रस्तावना ही नाटिका की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करती है।

राजकुमारी को भगा ले जाने और बंदीगृह में डाल दिए जाने वाली हाल की घटनाओं पर राजा उदयन और उनके विदूषक वसंतक के बीच कुछ विनोदपूर्ण वार्तालाप होता है। किंतु राजा द्वारा की जाने वाली बंदी जीवन की प्रशंसा पर विदूषक बिगड़ खड़ा होता है और उसकी याद बिल्कुल भुला देने के लिए कहता है। इस पर राजा, वासवदत्ता की बंदीगृह के साथ बड़ी सजीव तुलना करते हैं और विदूषक को उलाहना देते हैं कि उसकी नजर केवल बंदीगृह के कष्टों की ओर है, वासवदत्ता पर नहीं (दोषान् पश्यसि बंधनस्य न पुन: प्रद्योतपुत्रया गुणान्)।

वे उस पर पूरी तरह आसक्त हैं। विंध्यकेतु के विरुद्ध छेड़े गए असमाप्त युद्ध की बात उनके मस्तिष्क में घूम रही है और उसकी सफलता की वार्ता सुनने के लिए उनका मन व्याकुल है। तब सेनापति विजयसेन उन्हें सुनाता है कि किस तरह उसे विजय प्राप्त हुई। युद्धक्षेत्र में हुई अपने शत्रु की गौरवपूर्ण मृत्यु पर उदयन उसकी प्रशंसा करते हैं और प्रतिज्ञा करते हैं कि उसके परिवार के लोगों की स्नेहपूर्वक रक्षा करेंगे।

विजयसेन उन्हें बताता है कि वह अपने साथ एक लड़की को यह समझ कर लाया है कि वह विंध्यकेतु की बेटी है। राजा उस लड़की को रानी वासवदत्ता के निजी संरक्षण में रख देते हैं।

कलिंगराज के विरुद्ध बहुत शीघ्र ही फिर से युद्ध छेड़ने के अपने इरादे का कुछ संकेत देने के बाद राजा अंत:पुर में चले जाते हैं।

दूसरा अंक करीब दो वर्ष बाद की घटनाओं से शुरू होता है। एक दिन राजा के विदूषक को रानी वासवदत्ता बुला भेजती है। विदूषक उपवास किए हुए था, क्योंकि उसे राजमहल में एक स्वस्त्ययन संस्कार में जाने का न्यौता मिला हुआ था जहां ब्राह्मणों को दान में बहुत खिलाया पिलाया जाता है।

विदूषक जलाशय में स्नान करने जाता है और सोचता है कि रानी से दान पाने

वाला वह पहला ब्राह्मण होगा। पीछे पीछे राजा भी वहीं आ पहुंचते हैं। हंसों का मधुर कूजन उनके कानों में अमृत घोल रहा है। सरोवर पर एक तरुणी आरण्यका दिखाई देती है जो अपनी पतली पतली ऊंगलियों से कमल के फूल तोड़ती हुई किसी दूसरी लड़की से बात करती जाती है। शीघ्र ही राजा की आंखें उस तरुणी के सौंदर्य और शोभा को छक कर पीने लगती हैं। क्या यह कोई नागकन्या है ? क्या चंद्रमा ही पृथ्वी पर उतर आया है ? राजा और विदूषक छिपे छिपे उन दोनों लड़कियों की बातचीत सुनने लगते हैं, जिनसे राजा को पता चलता है कि वह परम रूपवती तरुणी विंध्यकेतु की पुत्री है।

दोनों लड़कियां अब एक-दूसरे से हट कर अलग-अलग फूल चुनने लगती हैं। राजा की भूखी आंखें एक क्षण के लिये भी आरण्यका पर से नहीं हटतीं। ठीक उसी समय अपने आसपास भौरों को मंडराते देख वह घबरा कर चिल्ला उठती है, ''मुझे बचा इन्दीवारिका, ये दुष्ट भौरे मुझे तंग कर रहे हैं''।

राजा मौके का फायदा उठा पीछे से जाकर उसे पकड़ लेते हैं और अपने उत्तरीय से भौंरों को उड़ाते हुए मृदु स्वर में उससे कहते हैं : ''भयभीत न हो अरी बावली, ये भौरे तेरे मुख कमल की सुगंध से खिंच कर आए हैं। अपनी आंखों से यदि तू कमल ही कमल खिलाती चली जायगी तो फिर ये तुझे भला कैसे छोड़ेंगे''?

आयि विसृज विषाद भीरुभृंगास्तवैते
परिमलरसलुब्धा वक्त्रपद्मे पतन्ति।
विकिरसि यदि भूयस्त्रासलोलायताक्षी
कुवलयवनीक्ष्मीं तत्कुतस्त्वां त्यजन्ति।।

आरण्यका राजा के शब्दों से आश्वस्त होने की जगह उनके कार्य से और भी त्रस्त हो उठती है। वह अपनी मदद के लिए अपनी सखी इन्दीवारिका को पुकारती है। तब विदूषक आगे बढ़ कर उसे बताता है कि यह अपरिचित भद्रपुरुष और कोई नहीं वत्सराज उदयन हैं, और उसी क्षण उसकी आंखें राजा की ओर उठ जाती हैं। तरुणी एक ही साथ लज्जित भी हो उठती है और पुलकित भी, क्योंकि इसी राजा के साथ तो उसके पिता ने उसका विवाह संबंध ठीक किया था।

द्वितीय अंक की इस घटना के बाद कुछ दिन बीत जाते हैं। नायक नायिका दोनों एक दूसरे पर पूरी तरह आसक्त हो चुके हैं। रानी के भय से वे आपस में मिल नहीं पाते और एक दूसरे के विरह में सूखते जा रहे हैं।

कदलीवन में बैठी ध्यानमग्न आरण्यका दिखाई पड़ती है जो आप ही आप कुछ बुदबुदा रही है। उसकी सखी मनोरमा इसी समय आ पहुंचती है जिसे उसकी स्वगतोक्ति को सुनकर राजा के प्रति उसकी गहरी आसक्ति का पता चलता है। वह सोचती

है कि अब तो इस बेचारी को मृत्यु की ही शरण लेनी पड़ेगी; यह तो राजा के ही प्रेम में दीवानी हो रही है जिन्हें वह कभी पा ही नहीं सकती।

सांत्वना देने के लिए मनोरमा उसकी ओर बढ़ती है। उसी क्षण घटनास्थल पर वसंतक भी इस आशा से आ पहुंचता है कि आरण्यका की खोज में इतनी देर तक भटकने के बाद वह शायद उसे सरोवर पर ही पा जाय।

राजा भी कामदेव के तीरों से घायल हैं, जैसा कि वे स्वयं कहते हैं। वसंतक और मनोरमा इन दोनों प्रेमियों के पुनर्मिलन के लिए षड्यंत्र रचते हैं।

राजसभा की सांकृत्यायनी नाम की अंत:पुर की एक विदुषी ने उदयन और वासवदत्ता की कहानी पर एक नाटिका रची है जो रंगमंच पर खेली जाने को है। इसमें आरण्यका को भी अभिनय करना है। खेल शुरू होने का वक्त आ पहुंचता है।

राजा की कहानी के आधार पर रची गई इस नाटिका के अंतिम अंश को देखने के लिए नाट्यशाला में सभी दर्शक एकत्र हैं जिनमें वासवदत्ता, सांकृत्यायनी और अंत:पुर की अन्य महिलाएं भी हैं।

''हैमलैट'' की ही भांति, इस नाटिका के अंदर भी एक नाटिका शुरू होती है। राजकुमारी वासवदत्ता के छद्मवेष में आरण्यका अपनी परिचारिका कांचनमाला के साथ रंगमंच पर आती है और वंशीवादन और गान करती है; मनोरमा जिसे उदयन का अभिनय करना है, वहां तो नहीं है पर विदूषक के साथ हुई गुप्त अभिसंधि के अनुसार वह नाट्यशाला के बाहर खड़ी प्रतीक्षा कर रही है। प्रेमातुर राजा विदूषक से पूछते हैं कि क्या अपनी भूमिका में उन्हीं को आना है ? विदूषक इसके उत्तर में हां कहता है। तब राजा रंगमंच पर जा पहुंचते हैं, और मनोरमा और वसंतक संलग्न चित्रशाला में जाकर खेल देखने लगते हैं। वासवदत्ता कुछ समझ नहीं पाती कि राजा के छद्मभेष में मनोरमा है या स्वयं राजा ही, और वह उनका अभिवादन करने के लिये उठ खड़ी होती है; राजा भी, यह समझ कर कि वासवदत्ता ने उन्हें पहचान लिया है, बेहद घबरा उठते हैं। किंतु नाटिका रचयित्री सांकृत्यायनी वासवदत्ता को याद दिलाती है कि यह तो खेल हो रहा है।

खेल चल रहा है और मनोरमा की प्रशंसा ही प्रशंसा हो रही है कि वह अपने वेष और अभिनय कौशल से बिल्कुल राजा उदयन ही लग रही है।

इस बीच मनोरमा और वसंतक खेल को दिलचस्पी के साथ देख रहे हैं, किंतु वसंतक को नींद आ जाती है। वासवदत्ता बनी आरण्यका विरह यातना भोगती हुई करुण स्वर में प्रणय गीत गा रही है, और राजा उसके पास बैठे हैं। रानी वासवदत्ता यह देख खिन्न हो उठती हैं, और नाटिका सांकृत्यायनी को बताती हैं कि यह चित्रण गलत है क्योंकि उस समय बंदी राजा की उन तक पहुंच ही नहीं थी। राजा आरण्यका

का हाथ पकड़ लेते हैं और फिर उसे अपनी छाती पर रख लेते हैं जिससे आरण्यका, यह मानती हुई भी कि उसका हाथ राजा के नहीं मनोरमा के हाथ में है, रोमांचित हो उठती है।

दूसरी ओर, उदयन के आनंद की सीमा नहीं है। किंतु रानी वासवदत्ता पहले तो कुंठित हो उठती हैं, फिर क्षुब्ध होकर वहां से चल देती हैं। वसंतक चित्रशाला के द्वार पर ही ऊंघ रहा है। रानी के आने की आहट पा वह जग उठता है। अभी भी ऊंघता हुआ सा यह मूर्ख अपनी अधखुली आंखों से मनोरमा की ओर ताकता हुआ पूछ बैठता है, "मेरे प्रिय मित्र अपना अभिनय करके लौट आए, मनोरमा?" अर्धनिद्रा में मूर्खतावश कहे गए इन शब्दों से खेल के अंदर चलने वाले इस दूसरे खेल की सारी बातों का भंडाफोड़ हो जाता है। रानी वासवदत्ता वसंतक और आरण्यका को उसी दम गिरफ्तार कर लेने का हुक्म देती है, किंतु मनोरमा चतुरतापूर्वक कुछ बहाने बना कर बच निकलती है। वसत्राज उदयन स्तब्ध खड़े रह जाते हैं और अपने अपराध की क्षमा मांगते हुए अपनी पत्नी के पांवों पर घुटने टेक देते हैं।

नाटिका का यह अंक बहुत ही महत्वपूर्ण है। दोनों प्रेमियों का मिलन कराने की दृष्टि से आयोजित षड्यंत्र और खेल के अंदर एक दूसरे खेल की कल्पना हर्ष की नाट्य-कौशल की ही परिचालक है।

तृतीय अंक की उस घटना के बाद कई दिन बीत जाते हैं। आरण्यका अभी भी बंदिनी बनी हुई है।

अपने प्रेम में पूरी तरह हताश और जीवन से निराश आरण्यका ने आत्महत्या करने की कोशिश की पर उसकी सखी ने किसी तरह उसे बचा लिया।

यह बात दर्शकों को मनोरमा की स्वगतोक्ति से मालूम होती है। उस के और कांचनमाला के बीच हुए एक संक्षिप्त वार्तालाप से हमें पता चलता है कि रानी अंगरावती ने अपनी बेटी वासवदत्ता के पास एक शिकायती चिट्ठी भेजी है। वासवदत्ता के मामा राजा दृढ़वर्मा को कलिंग राज ने पकड़ कर अंधकूप में बंद रखा था, जिस बात को घटे एक वर्ष से अधिक हो चुका था; वासवदत्ता की माता की शिकायत यह थी कि उदयन ने अभी तक कलिंगराज के विरूद्ध कोई कार्रवाई नहीं की है।

रानी वासवदत्ता दु:खी और असहाय हैं। वे समझती हैं कि अब उनके पति का उन पर कुछ भी प्रेम नहीं रहा और इसलिये वे अब उन की कुछ भी नहीं सुनेंगे।

किंतु सांकृत्यायनी उदास रानी को अपनी ओर से आश्वस्त करने का भरसक प्रयत्न करती है और उन्हें विश्वास दिलाती है कि इस मामले में राजा निश्चय ही उनकी बात मानेंगे।

पट परिवर्तन होता है; राजा और विदूषक रंगमंच पर यह वार्तालाप करते हुए प्रवेश करते हैं कि आरण्यका को कैसे छुड़ाया जाय।

विदूषक सुझाव देता है: ''रनिवास पर अपनी सेना द्वारा आक्रमण करके उसे छुड़ा लीजिए।'' पर राजा जानते हैं कि रानी को प्रसन्न किए बिना आरण्यका को छुड़ाने का कोई उपाय नहीं है। वह वसंतक से पूछते हैं कि रानी को कैसे प्रसन्न किया जाय। विदूक कौतुकपूर्वक सलाह देता है कि वे एक महीने का अनशन शुरू करें। (विदूषक बंदीगृह से भाग निकला है और न मुक्त ही किया गया है; फिर भी उसके पलायन की या मुक्त किए जाने की कोई बात नहीं बताई गई है।) अब राजा अनिच्छुक विदूषक को साथ लेकर वासवदत्ता के पास जाते हैं। राजा को देखते ही रानी उनके सम्मान में अपने स्थान से उठ खड़ी होती हैं और जानना चाहती हैं कि अपने पिछले व्यवहार पर वे लज्जित हैं या नहीं।

''मैं अपने अपराध के लिये... सचमुच ही लज्जित हूं,'' राजा कहते हैं और हाथ जोड़ कर क्षमा मांगते हुए नीचे फर्श पर ही बैठ जाते हैं। वे अपनी रानी के प्रेम से वंचित नहीं होना चाहते। ठीक इसी अवसर पर सांकृत्यायनी राजा दृढ़वर्मा के दुर्भाग्य से संबंधित रानी के तात्कालिक शोक का कारण राजा को बताती है। इससे राजा को मन ही मन निवृत्ति मिलती है और वे बताते हैं कि कलिंगराज के विरुद्ध आक्रमण करने के लिए सेनापति की विजय का शुभ समाचार सुनने की वे उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे हैं।

ठीक तभी विजयसेन और दृढ़वर्मा का कंचुकी संपूर्ण विजय का और दृढ़वर्मा के राजगद्दी पर पुन: स्थापित किए जाने का समाचार लिए रंगमंच पर प्रवेश करते हैं। शोक और निराशा का वातावरण छिन भिन्न हो जाता है और सबके चेहरों पर प्रसन्नता दिखाई देने लगती है, विशेष रूप से वासवदत्ता के चेहरे पर, जो अब खुशी से फूली नहीं समा रही है। खुशी और आनंद के इस अवसर से लाभ उठा कर विदूषक वसंतक, जो अब तक बराबर चुप ही था, एक के बाद एक कई सुझाव दे बैठता है, कि इतनी खुशी के मौके पर तो गुरूओं की पूजा की जानी चाहिए, ब्राह्मणों का सम्मान होना चाहिए और सभी बंदियों को मुक्त कर दिया जाना चाहिए। रानी को उसका मतलब समझते देर नहीं लगती।

रानी की अनुमति पाते ही सांकृत्यायनी आरण्यका को मुक्त कर देने के लिए वहां से चल देती है। कंचुकी अब अपने राजा की ओर से जो संदेशा लाया है और राजकुमारी प्रियदर्शिका के दुर्भाग्य की कहानी भी, जिसके विवाह का संबंध उदयन के साथ पक्का हो जाने के बाद वह लापता हो गई।

रानी वासवदत्ता की आंखों में आंसू भर आते हैं, खासतौर से अपनी ममेरी बहन के लापता हो जाने की खबर से। किंतु राजा और विजयसेन को विश्वास हो जाता है कि वह राजकुमारी यह आरण्यका ही है। तभी मनोरमा दौड़ी हुई वहां आती

है और बताती है कि आरण्यका भारी संकट में है। मदिरा कह कर लाया हुआ विष उसने पी लिया है। इस अप्रत्याशित समाचार से रानी वासवदत्ता घबरा उठती हैं और मनोरमा को आदेश देती हैं कि आरण्यका को वह यहीं ले आए क्योंकि उनके स्वामी विष का उपचार करना जानते हैं और शायद उसे बचा लें।

आरण्यका को, जो विष के प्रभाव से बेचैन थी, उसी दम वहां लाया जाता है और नागों से सीखे हुए उपचार द्वारा राजा उसे अच्छा कर देते हैं। तब कंचुकी उसकी असलियत खोलता है। उदार हृदय वाली रानी अपनी नव प्राप्त ममेरी बहन प्रियदर्शिका को एक मुस्कराहट के साथ राजा के हवाले करती हैं और परदा गिरते गिरते यह घोषणा की जाती है कि राजा उदयन और राजकुमारी प्रियदर्शिका की कहानी पूरी हुई।

हम देखते हैं कि 'प्रियदर्शिका' में कुछ वैसी ही घटनाएं लाई गई हैं जैसी 'रत्नावली' में। दोनों का नायक एक ही है उदयन और दोनों में ही उसका अपनी प्रेमिका के साथ मिलन हो जाता है, और अंत भला ही होता है।

तीनों नाटक-नाटिकाओं में चार अंकोंवाला नागानंद नाटक, परिभाषा के अनुसार यह नाटिका नहीं नाटक है, एक असाधारण रचना है जिसमें इसके नायक जीमूतवाहन के आत्मत्याग की उज्जवल भावना अंकित की गई है, जो एक नाग (सर्प) की जीवन रक्षा के लिये अपना बलिदान कर देता है। इस नाटक का उद्देश्य आत्मत्याग की महिमा दिखाना है, जिसे बौद्ध मत की एक विशिष्टता कहा जा सकता है। इस नाटक के सभी चरित्र मानव जगत से भिन्न, पौराणिक, काल्पनिक जगत के लोग हैं। हर्ष की अन्य दो रचनाओं की भांति यह मनोरंजनार्थ लिखा गया कोई सुखांत नाटक नहीं है। इसका कथानक सुलझा हुआ भी नहीं है, क्योंकि इसके प्रथम तीन और अंतिम दो अंकों के बीच शायद ही कोई संबंध दिखाई देता है। प्रथम तीन अंकों के घटना-क्रम के विकास से अंतिम दोनों अंक सर्वथा पृथक दिखाई देते हैं। लगता है कि यहां हर्ष की नाट्य प्रतिभा पूरी तरह से जवाब दे गई।

मंगलाचरण के बाद सूत्रधार सूचित करता है कि इन्द्रोत्सव के अवसर पर श्री हर्ष के अधीनस्थ राजाओं ने मुझसे अनुरोध किया है कि विद्याधर जातक की कथा पर लिखा हुआ उनका नाटक मैं आपके समक्ष प्रस्तुत करूं, और मुझे विश्वास है कि इसे रंगमंच पर सफलता मिलेगी।

विद्याधरों का राजकुमार विदूषक के साथ-साथ मलय पर्वत के वनों में तपस्या के लिये कोई झाड़ी की तलाश में भटक रहा है। उसके लिये किसी राजा की कृपा प्राप्त करने की अपेक्षा अपने माता पिता की भक्ति और निस्वार्थ सेवा कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।

पर्वत पर भटकते भटकते वह किसी साधु के आश्रम में जा पहुंचता है।

अब हम देखते हैं कि नाटक की नायिका मलयावती को स्वप्न में देवी गौरी ने उसकी भक्ति और पूजा से प्रसन्न होकर वर दिया है कि उसका विवाह विद्याधरों के राजा के साथ होगा। (हर्ष की एक अन्य नाटिका में 'स्वप्न' के स्थान पर 'भविष्यवाणी' का प्रयोग किया गया है।)

शरमाए हुए राजकुमार को खींच कर, विदूषक राजकुमारी के सामने लाता है और प्रथम दृष्टि में ही दोनों एक दूसरे पर आसक्त हो जाते हैं। किंतु दोनों के बीच की यह मुलाकात खत्म हो जाती है जब आश्रम से महात्मा का यह आदेश लेकर कोई आता है कि राजकुमारी आश्रम को लौटें, क्योंकि मध्याह्न के हवन का समय है। यहीं पहला अंक समाप्त हो जाता है।

राजकुमारी मलयावती की दो परिचारिकाओं के बीच होने वाली बातचीत से हमें पता लगता है कि राजकुमारी चंदनलताओं के निकुंज में विश्राम करना चाहती हैं। पुष्प चयन से होनेवाली थकान को दूर करना और गरमी से बचना ही उसका वास्तविक कारण नहीं है; उसे ''बाहरी गरमी'' से भिन्न कुछ और सता रहा है।

इस अंक की घटना प्रात:काल घटित होती है और नायक और नायिका के बीच का प्रेम और भी प्रगाढ़ हो, प्रेम ज्वर का रूप ग्रहण कर लेता है। इसमें जीमूतवाहन की उदार प्रकृति और दूसरों के हित के लिये निस्वार्थ भाव से अपना सब कुछ त्याग देने की भावना का भी वर्णन है।

प्रेम ज्वर से पीड़ित नायिका को किसी तरह चैन नहीं मिल रहा है और वह चंदन निकुंज में पड़ी एक शिला पर लेट जाती है। उसकी परिचारिका जिसे नायिका ने अपने हृदय के रहस्य से परिचित कर दिया है, उसकी छाती पर चंदन रस का लेप करके उसे राहत देने की कोशिश करती है। नायिका उसे इसकी निरर्थकता बताती हुई ठीक ही कहती है कि उसकी बीमारी की एक ही दवा है, उसके प्रियतम की प्राप्ति।

तभी पांवों की आहट सुनाई पड़ती है, और दोनों लड़कियां अशोक के एक लता वृक्ष के पीछे छिप जाती हैं।

प्रेमातुर नायक विदूषक के साथ प्रवेश करता है और उस शिला पर बैठ जाता है जिस पर उसने स्वप्न में अपनी प्रेमिका को बैठे और किसी अज्ञात कारण से रोते हुए देखा था। वह अपना स्वप्न सुनाता है जिसे वृक्ष के पीछे छिपी नायिका सुन लेती है; किंतु उसका बिल्कुल उलटा ही अर्थ समझ, निराश हो जाती है। नायक तब उस शिला पर अपनी प्रेमिका का चित्र अंकित करता है और इसी से अपना जी बहलाता है।

राजकुमारी का भाई मित्रावसु, बिना किसी पूर्व सूचना के आ पहुंचता है। राजकुमार

केले के पत्ते से उस चित्र को ढक देता है। मित्रावसु, जो सिद्धों का राजा है, अपनी बहन का विवाह उसके साथ कर देने का प्रस्ताव रखता है। नायक को यह कहां पता है कि उसकी प्रेमिका मलयावती ही मित्रावसु की बहन है। वह इंकार कर देता है। किंतु विदूषक मित्रावसु को सलाह देता है कि प्रस्तावित विवाह के लिए वह जीमूतवाहन के पिता की अनुमति प्राप्त करे।

यह सारी बातचीत सुन कर नायिका यह समझ पूरी तरह निराश हो जाती है कि राजकुमार किसी दूसरी लड़की को प्यार करता है। लताओं से बनाई गई फांसी गले में डाल कर वह आत्महत्या करने पर उतारू हो जाती है।

पर उसकी परिचारिका, जो पास ही छिपी हुई थी, मलयावती को गले में फांसी लगाते देख शोर मचा उठती है। नायक उस ओर झपटता है और मलयावती को आत्महत्या करने से रोक लेता है। तब उसे उसी शिला पर ले जाया जाता है और नायक द्वारा चित्रित वह चित्र दिखाया जाता है जिससे वह अपने प्रति उसके प्रेम के बारे में पूरी तरह निश्चिंत हो जाती है।

अब एक परिचारिका आकर सूचना देती है कि मलयावती का विवाह अविलंब होने जा रहा है।

विवाह समारोह के सिलसिले में सभी सिद्ध और विद्याधर गण मलयाचल पर्वत के कुसुमाकर उपवन में महाभोज का आनंद ले रहे हैं। शराब के नशे में चूर शेखरक नाम का विट अपने भृत के साथ, जिसके कंधे पर मदिरापात्र रखा हुआ है, उपवन में प्रवेश करता है और अपनी प्रेमिका नवमल्लिका की प्रतीक्षा करने लगता है। अपने सखा जीमूतवाहन को खोजता हुआ विदूषक भी, मधुमक्खियों के आक्रमण से बचने के लिये एक लाल वस्त्र अपने शरीर पर लपेटे, उपवन में आ पहुंचता है।

नशे में चूर शेखरक उसे अपनी प्रेमिका समझ बैठता है और उससे लिपट जाता है।

उसकी असली प्रेमिका नवमल्लिका इस दृश्य को देख लेती है और ईर्ष्या से जल भुन जाती है। विदूषक चिल्ला उठता है, ''अरे दासीपुत्र, तेरी नवमल्लिका नहीं हूं मैं''।

पट परिवर्तन होता है। विवाह के बाद नायक नायिका मधुर वार्तालाप में मग्न दिखाई देते हैं। नायक प्रसन्न है, और सूर्य की आभा से रंजित नायिका का चेहरा, जिसके सुंदर कपोल चंद्रमा को भी मात कर रहे हैं, उसे अलौकिक आनंद दे रहा है। नायिका भी कम प्रसन्न नहीं दिखाई दे रही है। अपने प्रति नायक का प्रेम, उसकी उपस्थिति, उसे पुलकित कर रही है।

किंतु सुख की घड़ी बीत जाती है और मित्रावसु आकर सूचना देता है कि उसके राज्य को मातंग ने लूट लिया है। वह शत्रु का वध करने की अनुमति मांगता है।

किंतु नायिका किसी प्राणी की हत्या की अनुमति देने को तैयार नहीं है भले ही उसका राज्य या उसके प्राण खतरे में पड़ जाएं।

वह इस अशुभ समाचार को सुनकर अविचलित रह जाता है और एक भी प्राणी को आनंदित करने के लिये अपने प्राण देने को तैयार है। अपने इस दृष्टिकोण की महिमा सिद्ध करने के लिये वह सूर्य का दृष्टांत देता है जिसका एकमात्र कार्य दूसरों का कल्याण साधन है। यहीं तीसरा अंक समाप्त हो जाता है।

मित्रावसु के पिता के कंचुकी और द्वारपाल परस्पर बात करते दिखाई देते हैं। कंचुकी को रानी, मित्रावसु की माता, ने आदेश दिया है कि दीपावली समारोह के अवसर पर दस दिन तक पहनने के लिये वह उनकी कन्या और जामाता के पास लाल वस्त्र पहुंचा आए। द्वारपाल तब कहता है कि उसे भी राजा विश्वावसु ने राजकुमार मित्रावसु (उनके पुत्र) को इस उद्देश्य से बुला लाने का आदेश दिया है कि इस अवसर पर जामाता के पास सौगातें भिजवाई जा सकें।

जीमूतवाहन और उसका साला मित्रावसु समुद्र तट पर चहलकदमी कर रहे हैं। अचानक जीमूतवाहन को गिरिशृंगों के ऊपर चुने हुए हड्डियों के ढेर दिखाई देते हैं जो हिमालय की चोटियों पर पड़ी हुई सफेद बर्फ जैसे जान पड़ते हैं। अपने साले से उसे मालूम होता है कि ये ढेर पक्षिराज गरुड़ द्वारा निगले गए नागों की हड्डियों के ही हैं जो न जाने कब से इकट्ठे होते गए हैं। नागराज वासुकि के साथ हुई गरुड़ की संधि के अनुसार प्रतिदिन केवल एक बड़े नाग को नागराज उसे सौंपता आ रहा था जिसे पक्षिराज निगल जाता था। गरुड़ द्वारा नागों के भक्षण से जब नाग जाति के विनाश की संभावना उपस्थित हो गई थी तभी यह संधि की गई थी। जीमूतवाहन तो दया और अहिंसा की मूर्ति ही था। इस दृश्य को देख वह स्तब्ध रह जाता है। तभी द्वारपाल आता है और मित्रावसु को उसके पिता के पास लिवा ले जाता है।

जीमूतवाहन अकेला रह जाता है। अचानक उसके कानों में किसी स्त्री के रोने की आवाज आती है। वह शंखचूड़ नाग की मां थी जिसका बेटा ही उस दिन गरुड़ के मुंह का कौर बनने वाला था। उस नागमाता पर जीमूतवाहन को दया आती है और उसके बेटे के स्थान पर वह स्वयं गरुड़ के मुंह का कौर बनने को तैयार हो जाता है।

''मेरे शरीर का उपयोग ही क्या, अगर मैं इस अभागे की रक्षा नहीं कर सकता... ?'' यह कहकर जीमूतवाहन शंखचूड़ की अनुनय विनय करता है कि वह उन लाल वस्त्रों को उसके हवाले कर दे जिन्हें धारण करके ही गरुड़ का अगला कौर बनने

वाला नाग उसके पास जाता था। किंतु शंखचूड़ जीमूतवाहन का अनुरोध मानने को तैयार नहीं होता। उसका ख्याल है कि उसके ऐसा करने से उसके संभ्रांत कुल पर कलंक लग जायगा।

दूसरी ओर जीमूतवाहन भी अपने ऊंचे आदर्श से प्रेरित हो अड़ जाता है कि वह अपने प्राण देकर ही रहेगा, जिनका उसके लिए कोई मूल्य नहीं अगर उस अभागे को बचाया नहीं जा सका।

भूखा गरुड़ दैत्य अब आने ही को है। शंखचूड़ दक्षिणी गोकर्ण को अंतिम प्रणाम करने के लिये वहां से चल देता है।

ठीक इसी समय कंचुकि आता है और नायक को लाल वस्त्रों का एक जोड़ा देकर वहां से चला जाता है। ये लाल वस्त्र मलयावती के माता पिता की ओर से सौगात के रूप में भेजे गए हैं।

उन लाल वस्त्रों को धारण कर जीमूतवाहन बलिवेदी की शिला पर जा चढ़ता है। गरूड़ आता है और उसे अपने पंजों में ले पर्वत शिखर पर जा बैठता है। नायक के इस साहसपूर्ण कृत्य की प्रशंसा में आकाश से पुष्प वर्षा होने लगती है और दुंदुभि बज उठती है। आखिर उसकी मनोकामना पूरी होकर रही। चौथा अंक समाप्त हो जाता है।

द्वारपाल जीमूतवाहन के घर उसका पता लगाने के लिये आया हुआ है; उसके श्वसुर चिंतित हैं कि समुद्र तट से वह अभी तक लौट कर नहीं आया।

उसके वृद्ध माता पिता और पत्नी को अपशकुन दिखाई देते हैं और इतने दिन हो जाने पर भी उसके न आने से वे बेचैन होने लगते हैं; उन्हें लगता है कि उस पर कोई विपत्ति आ पड़ी है। अब शंखचूड़ जल्दी जल्दी गोकर्ण की पूजा पूरी करके पुरानी जगह पर वापस लौटता है। जब वह देखता है कि थोड़ी देर के लिये ही उसके वहां से हटने पर राजकुमार ने अपने आप की बलि चढ़ा दी है तब वह चिल्ला उठता है, " हाय ! हाय ! भाग्य ने मुझे धोखा दे दिया"।

दया और उच्च आदर्शों की मूर्ति जीमूतवाहन के लिये उसे बड़ा शोक होता है। आंखों में आंसू भरे और बेहद उदास वह रक्त की रेखा का पीछा करता है और उस स्थान के पास आता है जहां उसके परिवार के लोग चिंता ग्रस्त खड़े हैं। उन्हें उससे पता चलता है कि क्रूर गरुड़ ने जीमूतवाहन को अपना ग्रास बना डाला है। वे सबके सब अचेत हो जाते हैं। होश आने पर वे सब भी उस नाग के साथ साथ रक्त की उस रेखा का पीछा करते हैं और निश्चय कर लेते हैं कि जीमूतवाहन अगर नहीं रहा तो वे सबके सब जल मरेंगे।

ऊंचाई पर हम गरुड को पर्वत शृंग पर बैठा देखते हैं जिसके सामने हमारा नायक

बुरी हालत में पड़ा हुआ है। उसका रक्त बुरी तरह से चूसा जा चुका है, पक्षी के पंजों से उसका मांस क्षत विक्षत हो चुका है। फिर भी नायक शांत और स्थिर है, मानों उसे कोई शारीरिक पीड़ा ही नहीं।

गरुड़ को यह जानने का कुतूहल होता है कि आखिर यह है कौन। नायक के शरीर से रक्त की धारा बह रही हैं किंतु अभी भी उसमें मांस बचा है।

तभी, तेजी से कदम बढ़ाता हुआ, उन्हीं लाल कपड़ों को पहने हुए, शंखचूड़ वहां आ पहुंचता है, और पीछे पीछे तीन और भी नाग। उस नाग और नायक दोनों के ही बदन पर वही लाल कपड़े हैं, और गरुड़ यह समझ नहीं पाता कि उसका असली ग्रास कौन था। शंखचूड़ बताता है कि वासुकि ने उसे ही गरुड़ के मुख का ग्रास बनने के लिये भेजा है। गरुड़ देखता है कि उससे बहुत बड़ी भूल हो गई। अब उसका हृदय पश्चाताप से भर जाता है।

नायक के माता पिता और उसकी पत्नी इस करुण दृश्य को देख सहम जाते हैं। पिता अपने पुत्र को धिक्कारता है कि उसने एक ही नाग को बचाना चाहा, जबकि उसे सभी नागों की प्राण रक्षा की बात सोचनी थी। इसी समय गरुड़ अपने पापों का प्रायश्चित करने के लिये आग में कूद कर जल मरना चाहता है। नायक उसे रोकता है और कहता है कि पापों का सही प्रायश्चित अपने प्राण दे देना नहीं, सभी प्राणियों की रक्षा करना है। नायक के शरीर की शक्ति बिलकुल ही क्षीण हो चुकी है और अब वह मरने ही वाला है। वह अपने पिता माता को अंतिम प्रणाम करना चाहता है और नाग से कहता है कि वह उसके हाथों को प्रणाम की मुद्रा में जोड़ दे। और इस तरह वह अपने प्राण छोड़ देता है।

सभी लोग एक बहुत बड़ी चिता सजाते हैं जिसमें शंखचूड़ समेत वे सबके सब भस्म हो जाना चाहते हैं। गरुड़, जिसका पूरी तरह हृदय परिवर्तन हो चुका है, ऊपर आकाश में उड़ जाता है। वह इन्द्र से प्रार्थना करना चाहता है कि अमृत वर्षा करके नायक को और उसके द्वारा तब तक खाए गए सभी नागों को वह पुनर्जीवित कर दे।

अचानक देवी गौरी का आविर्भाव होता है और मलयावती की भक्ति और जीमूतवाहन के आत्मबलिदान से संतुष्ट हो, जीमूतवाहन को फिर से प्राणदान कर उन सब पर कृपावृष्टि करती है।

देवी उसे उसका खोया हुआ राज्य भी वापस दिलाती है और विद्याधरों के सम्राट की उपाधि से उसे विभूषित करती है। ठीक इसी क्षण स्वर्ग से भी अमृत की वर्षा होती है। कहानी समाप्त हो जाती है।

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, यह नाटक बड़ा असंबद्ध सा है और

रंगमंच पर इसे उतारना भी कष्टसाध्य ही है। अन्य दोनों नाटिकाओं से विपरीत, इसका विषय गंभीर है, और स्पष्ट ही यह हर्ष द्वारा बौद्ध मत स्वीकार करने के बाद लिखा गया है।

हर्ष की दोनों नाटिकाओं में ही नहीं, उनकी इन तीनों रचनाओं में ही अनेक कथनों की पुनरावृति हुई है। इससे जहां एक ओर यह सिद्ध होता है कि ये तीनों ही रचनाएं हर्ष की हैं वहां दूसरी ओर यह भी प्रकट होता है कि या तो नाटककार लापरवाह है और या उसकी भावाभिव्यक्ति काफी सीमित है।

''रत्नावली'' के निम्नलिखित वाक्यों की तो ''नागानंद'' या ''प्रियदर्शिका'' में प्राय: शब्दश: पुनरावृत्ति हुई है :-

सखे। अतोऽपि सन्तापोऽधिकतरं मां बाधते।

भो वयस्य प्रच्छादय अनेन कदलीपत्रेण इमां चित्रगतां कन्यकाम्।

अथे कथमनभ्रा वृष्टि: ।

कथं प्रत्यभिज्ञातस्म्यनेन।

हताश। अनुभव तावदात्ममोऽविनयस्य फलम्।

तीनों ही रचनाओं में और भी कितनी ही पुनरावृत्तियां मिलेंगी।

हर्ष की नाट्य कृतियों पर भास की शिल्पविधि की छाया सी पड़ी जान पड़ती है। विवाहित नायक अपने वैवाहिक जीवन में सुखी होते हुए भी किसी दूसरी सुंदरी के प्रति आकृष्ट होता है। वह सुंदरी किसी प्रकार के कौशल से राजा के अंत:पुर में प्रवेश पा जाती है। और नायक उसके प्रति अपना प्रेम निवेदन करने का अवसर पा जाता है। और ऐन वक्त पर रानी उसे रंगे हाथों पकड़ लेती है, पर अंत में प्रेमियों का मिलन भी हो ही जाता है।

कालिदास या भवभूति की तुलना में अवश्य इन नाट्य कृतियों में चरित्रचित्रण या कथानक का विकास निम्न कोटि का है।

इतना हुआ हर्ष की नाट्य कृतियों के बारे में।

हर्ष ने ''सुप्रभातस्त्रोत'' के अतिरिक्त ''अष्ट-महा-श्रीचैत्य संस्कृतस्त्रोत'' भी लिखा। इनमें से दूसरा आठ विख्यात बौद्ध चैत्यों का काव्यात्मक वर्णन है। अजीब बात यह है कि इसके अस्तित्व की बात हमें इसके चीनी संस्करण के कारण मालूम हुई है। युआन च्वांग ने इसका उल्लेख ''शिलादित्य कृति'' कह कर किया है। बांसखेड़ा और मधुबन के ताम्रपत्रों के अभिलेख भी हर्ष की अपनी ही रचनाएं हैं। इन अभिलेखों की शैली हर्ष की नाट्य कृतियों से मिलती जुलती है।

7

हर्ष की मृत्यु और उसके बाद

इस देश से युआन च्वांग के विदा हो जाने के कुछ ही समय बाद हर्ष की मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु कैसे और ठीक किस स्थान पर हुई, इसका ब्यौरा नहीं मिलता। बल्कि उनकी मृत्यु की तिथि या वर्ष भी विवादग्रस्त विषय बना हुआ है। युआन च्वांग की जीवनी में इतना ही कहा गया है कि ''युआन हवेई काल की समाप्ति की ओर'' शिलादित्य की मृत्यु हुई। इसके आधार पर उनका मृत्यु काल सातवीं सदी के छठे दशक के मध्य में पड़ता है। किंतु प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री से स्पष्ट है कि चीन के सम्राट ने विशेष रूप से हर्ष की राजसभा में अपना राजदूत भेज रखा था। राजदूत का नाम था वांग-ह्यूएन-त्से, और वह इसलिए भेजा गया था कि ''मानवता और न्याय के सिद्धांतों को जो, उस देश में फैल चुके हैं, कोई रक्षक और प्रतिनिधि वहां रहे''। वह राजदूत, मालूम होता है, 648 ईसवी में आया जब तक कि महाराजा की मृत्यु हो चुकी थी।

इस प्रकार हर्ष ने आधी शताब्दी से कम समय तक ही (605 से 647 ईसवी तक) राज किया। वे चौदह साल की कच्ची उम्र में राजा बने जबकि वे स्थाण्वीश्वर जैसे छोटे से राज्य की जिम्मेदारी लेने लायक भी नहीं थे। किंतु उन्होंने न केवल उस जिम्मेदारी को, बल्कि बाद को तो कितनी ही बड़ी से बड़ी जिम्मेदारियों को, बड़ी खूबी के साथ निभाया। उन्होंने युद्धों का एक सिलसिला ही छेड़ दिया जिनका उद्देश्य न केवल आततायियों को दंड देना बल्कि मौके की ताक में रहने वालों के बीच भी आतंक पैदा करना था। इस प्रकार उन्होंने एक ऐसा बड़ा साम्राज्य स्थापित किया जैसा कि उनसे पहले केवल अशोक के समय स्थापित हुआ था और बाद को मुगलों के शासन काल में। हर्ष का शासन लोकहित के लिये था और वे गरीबों और जरूरतमंदों की मदद में दिन रात एक किए रहते थे। जैसा कि हम देख चुके हैं, वे विद्वान भी थे और नाट्यकार तथा कवि भी।

इस प्रकार के महान राजनेताओं की मृत्यु देश के अंदर एक ऐसा शून्य छोड़ जाती है जिसे भरना आसान नहीं होता। हर्ष की मृत्यु के बाद तुरंत ही अराजकता

और विशृंखलता को खुली छूट मिल गई। कहा जाता है कि युआन च्वांग ने एक स्वप्न देखा था जिसमें एक स्वर्ण आकृति ने उससे कहा था, ''जल्दी ही वापस लौट जाओ, क्योंकि दस वर्ष में शिलादित्य की मृत्यु हो जायगी। तब आंतरिक विद्रोह भारत को बरबाद कर देगा और दुष्ट प्रकृति के लोग एक-दूसरे का संहार करने लगेंगे। यह बात याद रखना''। (''युआन च्वांग की जीवनी'' से उद्धृत)।

हर्ष की मृत्यु के बाद उनके एक मंत्री ने राजगद्दी हड़प ली। इस बात की कोई जानकारी नहीं है कि हर्ष का कोई पुत्र था या नहीं। उनकी एक कन्या जरूर थी जिसका विवाह उन्होंने वलभी के ध्रुव भट्ट से किया था। उस मंत्री ने तुरंत ही चीनी राजदूत पर हमला किया जिसके और तो सभी आदमी मार डाले गए, पर वह खुद बच निकला। हर्ष के सर्वश्रेष्ठ मित्र, असम नरेश ने, कन्नौज से अपना नाता तोड़ लिया और बंगाल के आसपास का एक भाग अपने साम्राज्य में मिला लिया। मगध के परवर्ती गुप्त राजाओं ने कन्नौज की अधीनता त्याग दी, और जिस साम्राज्य को हर्ष ने इतनी बहादुरी से जीता था, इतने यत्न से संवारा था, और इतनी योग्यता के साथ शासित किया था वह पूरी तरह से छिन्न भिन्न हो गया।

दि सेन्ट्रल इलैक्ट्रिक प्रेस, ए-12/1 नरायणा इन्डस्ट्रियल एरिया-I, नई दिल्ली 110028 द्वारा मुद्रित